संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

ग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का
तिपादक मासिक

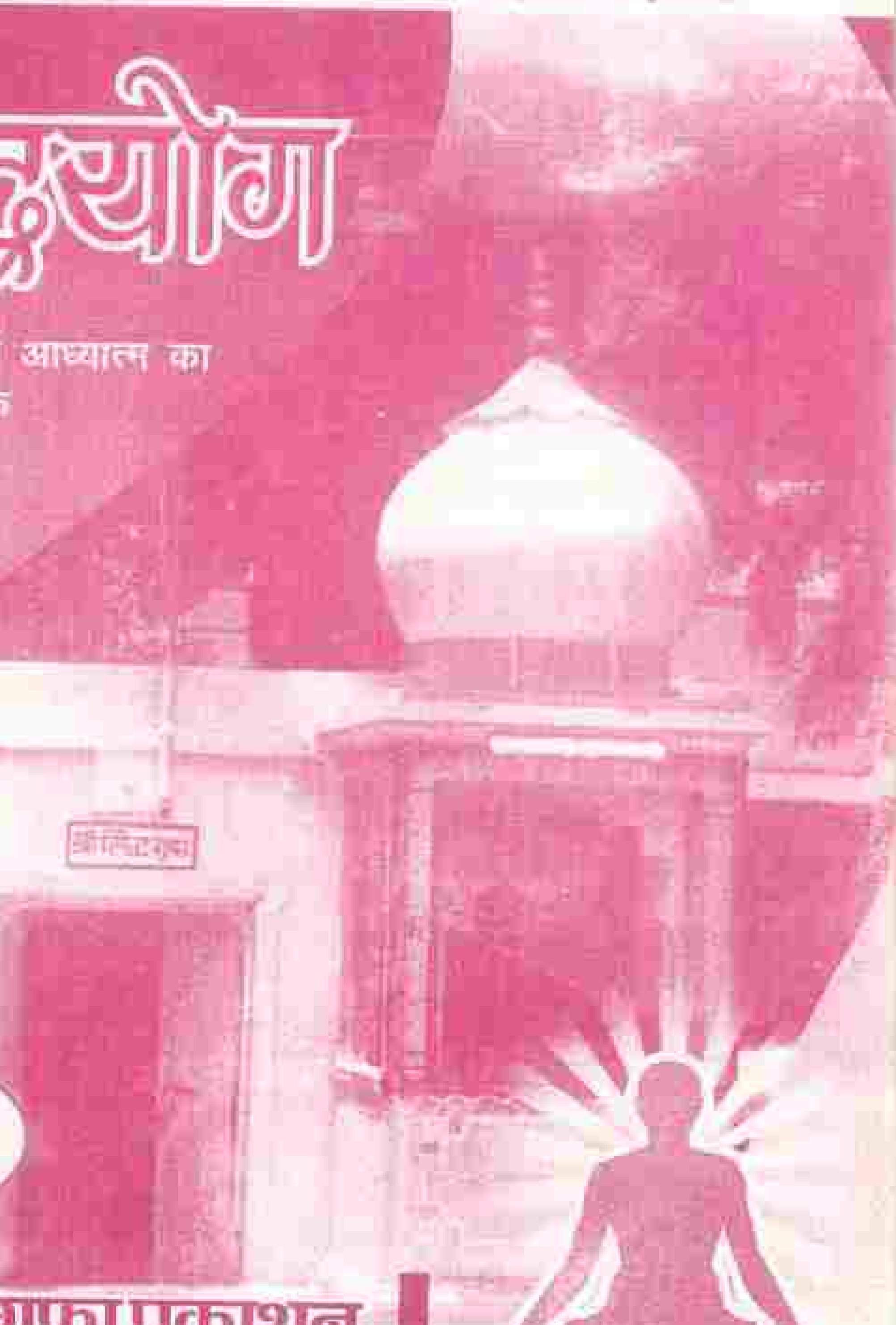

र्ष : 41; अंक : 6
सितम्बर, 2008

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन

सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

अमृतकण

चाणक्य नीति से

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पंचैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः।।

जीव जब माँ के गर्भ में आता है, तभी उसकी आयु, कर्म, धन विद्या और मृत्यु– ये पाँच बातें निश्चित हो जाती हैं।

• • •

संसार तापदग्धानां त्रयो विश्रान्तिहेतवः।
अपत्यं च कलत्रं च सतां संगतिरेव च।।

इस संसार में दुःखी लोगों को तीन बातों से ही शान्ति प्राप्ति हो सकती है। अच्छी संतान, पतिव्रता स्त्री और सज्जन लोगों का सत्संग।

• • •

एकाकिना तपो द्वाभ्यां पठनं गायनं त्रिभिः।
चतुर्भिर्गमनं क्षेत्रं पंचभिर्बहुभिर्रणः।।

तपस्या का कार्य एक अकेला व्यक्ति ही करता है, यदि दो छात्र मिलकर पढ़ें तो अध्ययन अच्छा होता है और गायन अभ्यास तीन लोग करेंगे तो अच्छा होगा। इसी प्रकार यात्रा पर जाना हो तो कम–से–कम चार आदमी जाने चाहिए। खेती कार्य ठीक प्रकार से चलाने के लिए कम–से–कम पाँच व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। परन्तु युद्ध में बहुत से लोगों की जरूरत होती है।

• • •

मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या अधनानां महाधनाः।
वारांगनाः कुलस्त्रीणां सुभगानां च दुर्भगाः।।

मूर्ख लोग विद्वानों से, निर्धन व्यक्ति धनवानों से, वेश्याएँ कुलीन स्त्रियों से और विधवा सुहागिनों से द्वेषभाव रखते हैं।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक–पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

वर्ष : 41 अंक : 6

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वधियो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं
स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु।।
–श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/12

जो रुद्र इन्द्रादि देवताओं को उत्पन्न करने वाला और बढ़ाने वाला है तथा जो सबका अधिपति और महान ज्ञानी (सर्वज्ञ) है। जिसने सबसे पहले उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ को देखा था, वह परमदेव परमेश्वर हम लोगों को शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।

सितम्बर 2008

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक

डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :

समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई–बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	12
3.	श्री सद्गुरु से दीक्षा आवश्यक क्यों ? – श्री केशवदेव उपाध्याय	15
4.	हार गया गुरुदेव, मैं तो हार गया – श्री जगदीशराय बसल	19
5.	गीता का ज्ञान कर्मसन्यास योग – पं. कृष्ण कुमार पाण्डेय	20
6.	'पद' – श्री भूपेन्द्र अकुश	23
7.	श्री प्रभु चरणों में समर्पित – श्री राजेश कुमार सिंह	24
8.	कर्मगति टारे नहिं टरै – डॉ. जे.पी. शर्मा	25
9.	अष्टांग योग – डा. ऋषिराम शर्मा	30
10.	भजन – श्री मोती राम गग	38
11.	अनुसरणीय – श्री अंशुमानदेव मालवीय	39
12.	जीवन का आधार – सुश्री निर्मला चन्देल	40

एक प्रति	: रु. 11.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 130.00
द्विवार्षिक	: रु. 250.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 850.00

विशेष लेख

योगियों का कोर्स

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

जिस प्रकार से हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत के बड़े-बड़े विद्यालयों के अन्दर छात्रों के अध्ययन के लिए पहले से ही उनका पाठ्यक्रम नियत रहता है उसी प्रकार योग में भी उच्चतम स्थिति प्राप्त करने के लिए उनका भी अभ्यास-क्रम विधिवत विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम की तरह से ही निश्चित रहता है। हमने इससे पहले यह भली प्रकार से समझा दिया है कि योगियों की वर्णाक्षरी मन की एकाग्रता से आरम्भ होती है और उसके बाद आगे क्या-क्या अभ्यसनीय विषय हैं, यह श्री गुरुदेव जी की कृपा से सामने आता रहता है। ''सिद्धयोग'' सिद्धों की एवं श्री गुरुदेव की अनुकम्पा से ही प्राप्त हुआ करता है। ईश्वर के परम अनुग्रह को प्राप्त हुआ करता है। ईश्वर के परम अनुग्रह को प्राप्त कर मनुष्य सिद्धयोग का विद्यार्थी बन पाता है और उसका अधिकारी बन जाने के बाद श्री गुरुदेव के परम अनुग्रह से इस मार्ग में उसकी प्रगति होती चली जाती है। जो लोग सिद्धयोग के विद्यार्थी बन जाते हैं और मन की एकाग्रता के साथ अन्तर-भूमिकाओं में उनका प्रवेश हो जाता है ऐसी स्थिति में योग का द्वार उनके लिए खुल जाता है। वे लोग उत्तरोत्तर उन्नति करते रहते हैं। भगवान व्यासदेव ने पातंजलियोग सूत्र के भाष्य में लिखा है:-

योगिनो योग एव उपाध्याय:।

अर्थात्- योग में प्रगति हो जाने के बाद योगी का वह योग ही गुरु बना रहता है और वह यह बतलाता रहता है:-

इयमन्तरा भूमिरियमन्तरा भूमि:।

उसके बाद यह स्थिति होगी, उसके बाद यह स्थिति होगी। ऐसे दृश्य साधकों के सामने अपने आप ही आते रहते हैं और उन दृश्यों के अनुसार यदि अपने गुरुदेव का परम कृपा पात्र है तो वह योगी साधक अन्तरायों से बचकर अपनी साधना को बढ़ाता चला जाता है और थोड़े समय में ही उसको **''अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि''** हो जाती है।

अतः योगियों का अभ्यास क्रम, मन की एकाग्रता से प्रारम्भ होता है। अपने मन में एकाग्रता के अभ्यास को उच्चतर बनाकर संयम तक ले जाने के लिए भगवान पतंजलिदेव ने अपने अष्टांग-योग के अन्दर तीन उच्चतम साधनों का वर्णन किया है जिनको सिद्ध कर लेने के बाद ही योगी संयम के विषय को भली प्रकार से समझ सकता है और संयम सिद्ध हो जाने

पर ही उसका भूमियों में विनियोग किया जा सकता है और वस्तु की यथार्थ स्थिति को जाना जा सकता है, किन्तु उससे पहले श्री पतञ्जलि जी के बतलाये हुए उन तीन प्रमुख साधनों को अभ्यास में ले आना परम आवश्यकीय है।

इन तीनों साधनों का नाम धारणा, ध्यान और समाधि है। ये अष्टाग–योग के अंतरंग साधन माने जाते है, क्योंकि यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार अष्टाग–योग के पाँच अंग, मन की आभ्यन्तर स्थिति हुए बिना भी अभ्यास में लाये जा सकते है, किन्तु धारणा, ध्यान और समाधि को तभी मनुष्य अपने अभ्यास में ला सकता है, जब वह अन्तःचक्षु हो चुका हो। वह बाह्य व्यापार को बन्द करके अन्तरावलोकन का अभ्यासी बन चुका हो। धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों अंग इस प्रकार से हैं–

धारणा

भगवान पतंजलिदेव ने धारणा का लक्षण इस प्रकार से लिखा है:–

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

अर्थात्–किसी लक्ष्य स्थान में अपने चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। इस सूत्र के भाष्य में भगवान व्यासदेव ने यह पंक्ति लिखी है:–

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाऽग्रे इत्येवमादिषु, देशेषु, वाह्ये वाविषये, चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा।

अर्थात्– नाभिचक्र, हृदय कमल, मूर्धाज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र आदि स्थानों में बाह्य वृत्ति से या आभ्यन्तर वृत्ति से केवल वृत्ति से ही चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। जो व्यक्ति मन की एकाग्रता के अन्य साधनों का भी अभ्यास करते हुए मन की एकाग्रता के लिए लक्षीभूत स्थल पर हृदय कमल या मूर्धाज्योति आदि के अन्दर मन को एकाग्र करके धारणा का अभ्यास करते हैं, उनका यह अभ्यास स्वाध्यायपूर्वक अनवरत चलता है तो लगातार छः मास के अभ्यास के बाद यह धारणा ही ध्यान के रूप में परिवर्तित हो जाती है। ध्यान चित्त की उस स्थिति का नाम है जिसमें चित्त की बाह्य वृत्ति का उपशमन हो जाने के बाद आभ्यन्तर वृत्ति का पूर्णरूपेण अभ्युदय हो जाता है। उसमें चित्त का बिल्कुल सदृश प्रवाह चलने लगता है। उसी को भगवान पतंजलि देव ने ध्यान कहा है।

ध्यान

ध्यान का लक्षण करते हुए भगवान पतंजलिदेव ने यह सूत्र लिखा है:–

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

अर्थात्– ध्येयभूत लक्ष्य स्थल पर चित्त का तैलधारावत् सदृश प्रवाह ही ध्यान

कहलाता है। इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव जी ने भाष्य करते हुए यह वार्तिक लिखी है-

तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्।

अर्थात्-उस लक्ष्य स्थान में ध्येयावलम्बन भूत विषय में चित्त का अनवरत सदृश प्रवाह जिसमें कोई दूसरा ज्ञान पैदा ही न हो, चित्त की इस प्रकार की स्थिति को ध्यान कहते हैं। इस प्रकार का ध्यान जब साधक का दो या तीन घण्टे अनवरत चलने लग जाये और इसमें प्रत्ययान्तर छू भी न सके, वृत्ति बिल्कुल एकाग्र रहे तो कुछ समय के बाद यही समाधि के रूप में परिवर्तित हो जाया करता है। मनुष्य के मन की वृत्ति तदाकारित होकर तद्‌रूप हो जाया करती है, उसी का नाम समाधि है।

समाधि

समाधि का लक्षण पतंजलिदेव जी ने निम्नांकित सूत्र में प्रकट किया है:-

तदेवार्थ मात्रनिर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः।

इस सूत्र पर व्यास जी ने निम्नांकित पंक्तियों में भाष्य लिखा है, वह इस प्रकार से है-

ध्यानमेव ध्येयाकार निर्भासः प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येय स्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते।

अर्थात्-वह ध्यान ही ध्येयाकार वृत्ति में बदला हुआ प्रत्यान्तरेण अपरामृष्ट होकर जिसमें साधक अपने स्वरूप को ही भूल जाये और अपने आपको ध्येयाकार में अवस्थित समझने लगे अर्थात् उसको यह आभास न रहे कि मैं कोई यज्ञदत्त, देवदत्त, चन्द्रदत्त आदि व्यक्ति हूँ। प्रत्युत यह आभास हो कि जिसका मैं ध्यान करता हूँ वह राम, कृष्ण या शिव मैं ही हूँ और इस प्रकार स्थिति के अनवरत बढ़ जाने के बाद साधक के अन्दर अपने इष्टदेव की सिद्धियों का स्वतः प्रकाश होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि अब यह समाधि ही हो गयी। समाधि का ही उत्कृष्ट रूप संयम कहलाता है। भगवान पतंजलिदेव ने संयम की परिभाषा इस प्रकार लिखी है:-

संयम

त्रयमेकत्र संयमः।

इस सूत्र पर व्यास जी का भाष्य इस प्रकार है-

एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते तदस्य, त्रयस्य तांत्रिकी परिभाषा संयम इति।

अर्थात्– धारणा, ध्यान, समाधि तीनों साधन जब एक विषयक हो जायें, उनके बीच में कोई अन्तराय न आये, तभी संयम सिद्ध हुआ समझना चाहिये और संयम सिद्ध हो जाने के बाद ज्यों–ज्यों अभ्यास के बल से संयम की उत्कृष्ट स्थिति होती चली जायेगी तब इस प्रकार के संयमित मन को हम जहाँ भी लगायेंगे वह उस विषय को तत्काल प्रत्यक्ष कर लेगा। ज्यों–ज्यों योगी संयम पर विजय प्राप्त करेगा, त्यों–त्यों उसको प्रज्ञालोक होता चला जायेगा। अर्थात्–समाधि प्रज्ञा बिल्कुल होती चली जायेगी। इस प्रकार संयम सिद्ध हो जाने के बाद ही योगी को संयम का उपयोग अन्यान्य भूमियों में करना चाहिये न कि उत्तरभूमियों में। जो साधक निम्न श्रेणियों के अन्दर बल पा जाता है उसकी उत्तर श्रेणियाँ अपने आप ही उत्कृष्ट हो जाया करती हैं। कदाचित् ईश्वर के परम अनुग्रह से या गुरुदेव की अनुकम्पा से योगी जितोत्तर भूमि हो जाता है। अर्थात्–संयम के ऊँचे विषयों में सफलता पा जाता है तो उसको निम्न श्रेणियों में संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। जिस प्रकार से एक छात्र बाकायदा स्कूल की शिक्षा न पाकर अपनी स्वतन्त्रता से अध्ययन करके बी०ए०, एम०ए० आदि परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर लेता है तो उसको पहली, दूसरी आदि छोटी श्रेणियों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार जितात्र भूमि योगी को अध: भूमियों में संयम की आवश्यकता नहीं रहती। वैसे इस अभ्यासक्रम से जो योगी अपने मन को संयमित कर लेता है वह ईश्वर के परमानुग्रह से उत्तरोत्तर भूमियों में भी विजय प्राप्त करता है। भगवान व्यासदेव जी ने एक श्लोक के रूप में दो पंक्ति इस प्रकार लिखी है–

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्।।

अर्थात्–योगी का वह योग ही गुरु बन जाता है क्योंकि योग से ही योग चलता है, जो आलस्य रहित होकर योगाभ्यास करता है वह अवश्य समाधि को प्राप्त हो जाया करता है। जिस योगी ने अपने मन को संयमित कर लिया है उसको चाहिये कि जिस अभ्यास क्रम को हमारे पूर्व आचार्यों ने बतलाया है उन विषयों के अन्दर मन को संयमित करके अपने आपको परिपूर्णरूपेण ज्ञान–विज्ञान तृप्तात्मा बना ले तभी वह व्यक्ति युक्तयोगी कहलाने का अधिकारी बन सकेगा।

युक्त योगी का लक्षण

भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के छठे अध्याय में युक्त योगी का लक्षण इस प्रकार लिखा है–

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय:।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्म कांचन:।।

अर्थात्–जिसकी आत्मा ज्ञान–विज्ञान से परिपूर्ण है और विकार रहित स्थिति में

पहुँच चुकी है, जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है और जिसकी दृष्टि में लोहा, पत्थर और सोना सभी कुछ एक जैसा ही है अर्थात्–किसी में उसकी आसक्ति नहीं होती, ऐसा योगी युक्तयोगी कहलाता है। ज्ञान तृप्तात्मा का अर्थ है प्रकृति के सभी विषयों में संयम करके उनके यथार्थ तत्व को जानकर उन पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेना। यही ज्ञान तृप्तात्मा का लक्षण है। इसके अतिरिक्त जिस योगी ने पूर्णरूपेण आत्म साक्षात्कार कर लिया है और विषयवासना के गर्त से पूर्णरूपेण ऊँचा उठ चुका है, इन्द्रियों पर पूर्णाधिकार कर लिया है वही योगी युक्तयोगी कहलाता है। युक्तयोगी बनने के लिए साधक को चाहिये कि वह शास्त्रोक्त विधि से विभिन्न विषयों में संयम करता हुआ युक्त–योगिता को प्राप्त करे। भगवान पतंजलिदेव ने सम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण लिखते हुए इस सूत्र की रचना की है:–

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञात:।

अर्थात्– वितर्क, विचार आनन्द अस्मिता के भेद से ही सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की है।

वितर्कानुगत योग

सम्प्रज्ञात योग की पहली श्रेणी वितर्कानुगत समाधि कहलाती है। इसका अर्थ है– योगी जिस समय प्राथमिक अभ्यास शुरू करता है, उस समय वह चित्त को ठहराने के लिए स्थूल विषयों का अवलम्बन लेता है। इस अभ्यास में योगी के सामने प्राय: स्थूल विषय ही आया करते है। इसको इस प्रकार समझ लेना चाहिये जैसे किसी साधक ने अपने देव भगवान शिव का अथवा राम या कृष्ण का ध्यान आरम्भ किया, तो इस समाधि में उसके सामने इष्टदेव की मनुष्याकृति ही आती रहेगी और जिस समय मन इस ध्यान से विचलित होगा तो उस समय उसके सामने मनुष्य लोक के ही दृश्य अधिक आयेंगे। यह वितर्कानुगत योग सम्प्रज्ञात योग की पहली श्रेणी है। जिस समय योगी अन्तर्मुखी हो करके किसी विषय का चिन्तन करने लगता है तो उस समय उसको उत्तरोत्तर प्रगति कराने के लिए सर्वशक्तिमान परमात्मा की शक्ति उसकी सहायक हुआ करती है। जिस समय वह अपनी पहली श्रेणी को अच्छी प्रकार से परिपक्व बना चुकता है उस समय उसके सामने द्वितीय श्रेणी के दृश्य उर–प्रेरक गुरुदेव की प्रेरणा से स्वयं ही आने लगते हैं और परिणामस्वरूप उसका यह पूर्वाभ्यास स्वत: ही छूट जाता है क्योंकि उसके अभ्यास का विषय उससे भी सूक्ष्म विचारानुगत योग का हो गया है।

विचारानुगत योग

विचारानुगत योग में मनुष्य अपने इष्टदेव के स्वरूप को मनुष्य लोक की अपेक्षा बहुत अधिक सुन्दर एवं आभामान देखने लगता है। वह यह समझता है मेरे ध्यान ध्येयावलम्ब मेरे इष्टदेव अब उत्तरोत्तर बहुत ही दिव्य छवि वाले परम रमणीक एवं सुन्दर बनते जा रहे है। इस

द्वितीय श्रेणी के अन्दर योगी अपने इष्टदेव को देवाकृति में देखने लगता है। जब उसका यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है उस समय उसके सामने स्वतः ही देवलोक के दृश्य आने लगते हैं। वह योगी अपने इष्टदेव को बहुत ही सुन्दर दिव्याकृति में देखता है। ऐसी स्थिति में इसके सामने देवलोक के दृश्य आने लगते हैं। कभी वह देखता है, उसके सामने देवोद्यान, नन्दनवन आदि के दृश्य आ रहे हैं। कभी–कभी देवलोक के और रमणीक दृश्य या देवलोक की सुन्दरियाँ नृत्य करती हुई सामने आती हैं। तरह–तरह की वाणियाँ सुनाई देती हैं अब तक यह साधक योगी "**मनुष्यः देवानाम् पशुः**" के अनुसार देवताओं के अधीन रहने वाला सेवक के समान साधारण प्राणी था, किन्तु गुरुदेव की परम अनुकम्पा एवं ईश्वरानुग्रह को पाकर अब यह योगी बन गया और बड़े दिव्यात्माओं का पूज्य हो गया। यह स्थिति इस प्रकार की है, जिसमें कोई भाग्यवान गुरुदेव का लाड़ला, वीर, धीर, संयमी पुरुष ही आगे निकल पाता है, अन्यथा दैविक प्रलाभनों में आ करके अपने आपको पुनः अनिष्टों में डाल देता है। इस स्थिति में गये साधकों के लिए भगवान पतंजलिदेव का आदेश है कि :–

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मया करणं पुनरनिष्ट प्रसङ्गात्।

अर्थात्–जिस समय योगी के सामने देवलोक के दृश्य आयें और देवता उसका प्रेमपूर्वक आह्वान करें उस समय योगी को बिल्कुल सतर्क हो जाना चाहिए। क्योंकि देवलोक के रमणीक दृश्यों में फँस करके उसका दुबारा अनिष्ट न हो जाये। इसलिए भगवान पतंजलिदेव ने यह आदेश दिया कि जिस समय योगी को देवता लोग दिव्य भोग दिखलाकर उसको आकर्षित करने की चेष्टा करें उस समय योगी को चाहिए कि वह देवलोक के प्रलोभनों को न देखे और देखने पर भी यदि उसने अपने आपको नियंत्रण में कर लिया है तो उस हालत में योगी के मन में यदि यह अभिमान पैदा हो जाता है कि अब मैं देवताओं का भी पूज्य हो गए। हूँ इसलिए मेरी इन पर हुकूमत है और मुझे इनकी बात माननी चाहिये। ऐसा अभिमान करने से योगी को कालभय रहता है और देवताओं की बात मान करके वह वासनीय भोगों में प्रवृत्त हो जाता है तो प्रवृत्ति बढ़ जाने से फिर उसी खंदक में पड़ जाता है जहाँ से वह बड़ी कठिनता के साथ पार हुआ था। महापुरुषों के चरणों में इस प्रकार की कई घटनायें घटती रहा करती हैं। इसके उदाहरण स्वरूप एक यथार्थ घटना लिख देना चाहता हूँ जिसको पढ़कर हर व्यक्ति सचेत हो जाये और वह इनके प्रलोभन से बच करके अपना अभ्युदय करता रहे।

राधेश्याम नागा

(उपनाम रमणगिरि नागा)

हमारे आश्रम योग प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्धगुफा सवाई में अकस्मात् घूमता–घामता एक नवयुवक नागा साधू आया और उसने आश्रम की नियमावलि को स्वीकार करके

योगाभ्यास आरम्भ किया। श्री प्रभुजी के परम अनुग्रह को पाकर उसने बहुत जल्दी अपना अभ्युत्थान किया और थोड़े ही समय के अन्दर योग की द्वितीय श्रेणी विचारानुगत में वह प्रवेश कर गया। उसके ध्यान में भगवान शिव के लीला स्थल एवं अन्य सत्पुरुषों की अनुभूतियाँ हुआ करती थीं। शनै:–शनै: अभ्यास से यह स्थिति आती गयी कि उसने देवलोक के सुन्दर दृश्य देखने आरम्भ कर दिये। वह कभी देवेन्द्र लोक में जाकर उनके रमणीक उद्यान और लीला–स्थलों को देखता, कभी देवांगनाओं की नृत्य कलाओं को देखता और कभी रसायनों का अनुभव किया करता था। शनै:–शनै: वहाँ की नृत्य कलाओं को देखने का वह अभ्यासी हो गया। उसका स्वर्गीय उपभोगों में आकर्षण बढ़ गया और देव सुन्दरियाँ उसका मान करने लगीं। उसने एक बहुत सुन्दर कन्या को देखा जिसको देखकर उसका मन उसकी ओर आकर्षित हो गया। ऐसी स्थिति होने पर देवताओं ने उसको परामर्श दिया कि यह देवकन्या तुम्हारे लिए बहुत दिनों से तप कर रही है। यह सोचती है कि कब तुम मनुष्य लोक को छोड़कर इस दिव्य लोक में आकर रहोगे सो अभी तक इस प्रकार का कोई संयोग नहीं हो पाया। अब परम गुरुदेव की अनुकम्पा को पाकर तुम्हारा परम पुण्य बढ़ गया है और इस लोक में आ गये हो इससे अच्छा तुम्हारे लिए और कोई स्थान नहीं है। गुरुदेव के चरणारविन्द में जाकर तुमने प्राप्त करने योग्य वस्तु को पा लिया है। इसलिए अब इधर–उधर भटकने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे गुरुदेव तुम्हें यहाँ आने से रोकते होंगे, इसलिए तुम आज ही आश्रम छोड़कर कुसुम सरोवर पर जा करके तप करो। उसके फलस्वरूप तुम इसी दिव्यलोक में आ जाओगे या यह देवकन्या ही वहाँ प्रकट होकर वहीं पुष्प–मालायें पहनायेगी। परिणामस्वरूप वह उत्तम साधक उन प्रलोभनों में आकर आश्रम से चला गया। देवलोक का अतिथि तो वह नहीं बन पाया किन्तु अन्यान्य सम्पर्कों से उसका पतन अवश्य हो गया और अपनी उच्चतम स्थिति से पुन: साधारण मनुष्य लोक का साधारण मनुष्य ही रह गया। इसलिए भगवान पतंजलिदेव ने आदेश दिया है:–

स्थान्युपनिमंत्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्॥

यह सम्प्रज्ञात योग की दूसरी श्रेणी है जिसमें योगी के सामने देवलोक के दिव्य दृश्य सामने रहा करते हैं और प्रबल प्रलोभन उसके सामने आया करते हैं। किन्तु श्री गुरुदेव का परम कृपा पात्र इन सब विघ्न–बाधाओं से बचकर अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कदम बढ़ाता चला जाता है और शनै:–शनै: अपने परम लक्ष्य को अवश्य पा लेता है। इससे आगे योग की तृतीय श्रेणी है–आनन्दानुगत योग।

आनन्दानुगत योग

इस समाधि में बुद्धि से परम पवित्र धर्म प्रकट होते हैं। सत्व शुद्धि होकर मनुष्य विवेक ख्याति की ओर बढ़ता है। उसके रोग शोक नष्ट हो जाते हैं, पवित्र प्रेम, ज्ञान, धर्म और दया का पूर्ण उदय हो जाता है। योगी अपने आपको सर्वथा आनन्द रूप में देखने लगता है।

अब उसका लक्ष्य अखण्ड भू-मण्डलाकार व्यापक तेज रह जाता है। जिस इष्टदेव का अभी तक चिन्तन किया था, उसको अणु परमाणुओं में ओत-प्रोत देखने लगता है। यह परम सुख है इसको पा करके योगी और कुछ भी पाने की इच्छा नहीं रखता। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार वर्णन किया है-

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धि ग्राह्य मतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलतितत्त्वत:।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत:।
यस्मिन्स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते।।

अर्थात्-ये आत्यन्तिक सुख है और केवल मात्र बुद्धिग्राही है, अतीन्द्रिय है। इस स्थिति में जाकर मनुष्य पतन से परे हो जाता है और वह विचलित नहीं होता। यह ऐसा सुख है जिसको पाकर के योगी और कुछ पाना नहीं चाहता और बड़े भारी दु:ख से भी विचलित नहीं होता। हमेशा आनन्दमग्न रहा करता है। यहाँ अपने आप ही युक्तता होने लगती है और इस समाधि में समाविस्थ होकर योगी प्राणी मात्र के अन्दर अपने आपको और प्राणीमात्र को अपने अन्दर देखने लगता है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से स्वयं कहा है-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन:।।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं चमयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि सच मे न प्रणश्यति।।

अर्थात्-जो प्राणी मात्र में अपने आपको देखता है और अपने अन्दर प्राणीमात्र को देखता है वह युक्तात्मा है। वह कभी भी मुझसे दूर नहीं होगा। दूसरे शब्दों में जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मेरे अन्दर देखता है उसके लिए मैं कभी नष्ट नहीं होता। इस बुद्धिग्राही सुख को पाकर के योगी अपने आप को कृतार्थ बना लेता है। इससे आगे की चौथी श्रेणी वह है जिसमें वृत्ति निर्वाणोन्मुखी हो जाती है। उस समाधि का नाम अस्मितानुगत योग है।

अस्मितानुगत योग

अस्मितानुगत समाधि वह कहलाती है जिसमें योगी ब्रह्माण्ड भर के समस्त दृश्यों को देखकर शान्त हो जाता है। वृत्ति केवलमात्र एक शेष रह जाती है जिसको निर्वाणोन्मुखी वृत्ति कहा करते हैं। इस स्थिति के योगी की स्थिति भजन करती है, अस्मि, अस्मि, अस्मि अहमेवास्मि अर्थात्-मैं हूँ, मैं हूँ, मैं हूँ यह सब कुछ मैं हूँ। इस समाधि में योगी को दो विशेष प्रकार की ताकतें उपलब्ध होती हैं, पहली ताकत उसकी बुद्धि ऋतम्भरा बन जाती है।

भगवान पतंजलिदेव कहते है–

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

तस्मिन् समाहित चित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति, अन्वर्था च सा सत्यमेव बिभर्ति, न तत्र विपर्यासगन्धोऽस्तीति।

अर्थात्–इस समाधि में जो योगी की बुद्धि पैदा होती है वह अन्वर्था अर्थात् सत्य को धारण करने वाली ही होती है। योगी जो कुछ सोचता है वह सत्य सोचता है। जो हरकत होती है वह सत्य होती है। उसके मन में जो भी संकल्प आयेगा वह वही होगा जो हो रहा होगा। यदि योगी यह विचार करता है कि उस देश में इस समय वर्षा हो रही है तो वह हो ही रही है। तभी उसके मन में यह संकल्प बनेगा। अन्यथा नहीं बनेगा। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा और सभी प्रकार के संस्कारों को रोक देती है, केवल अपने ही संस्कार इसमें शेष रहते हैं, शेष संस्कार निर्वाणोन्मुखी वृत्ति के ही होते हैं। इस स्थिति में जा करके योगी सत्य संकल्प हो जाता है। वह जो कुछ सोचता है वह होने लगता है। यह भी एक प्रकार की सिद्धि है। इसको संकल्प सिद्धि कहते हैं। दूसरी सिद्धि चित्तनिर्माण शक्ति योगी को स्वभाव से ही प्राप्त हो जाती है। भगवान पतंजलिदेव कहते है–

निर्माण चित्तान्यस्मितामात्राद्।

अस्मिता मात्र चित्तकारणमुपादाय निर्माण चित्तानि करोति ततः सचित्तानि भवन्ति।

अर्थात्– इस समाधि में अपना चित्त निर्माण करके योगी हजारों जगह एक साथ जा सकता है। वह जितने चित्त बनायेगा वे सभी उसके अधीन होंगे।

ये सम्प्रज्ञात योग की चार श्रेणियाँ हैं, जिनको पतंजलिदेव ने स्वीकार किया है। इस प्रकार से यह योगियों का कोर्स है और सम्प्रज्ञात योगियों के लिए अभ्यासक्रम का उत्तमोत्तम साधन है। जिस क्रम से चलता हुआ योगी अवश्य ही असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त हो जाता है। इसी साधन क्रम को हमारे अन्यान्य आचार्यों ने भिन्न–भिन्न प्रकार से कहकर सर्वसाधारण के लिए सुलभ बना दिया है।

■■■

मुमुक्षु साधक तत्व जिज्ञासा से जब सद्गुरु की शरण में जाता है, तब सद्गुरु उस शरणापन्न साधक को ईश्वर सम्बन्धी नाम, रूप, लीला और धाम का ज्ञान कराते हैं, जिससे मुमुक्षु का जन्म–जन्मान्तरीय पाप पुंज क्षीण हो जाता है। तदान्तर निरंजन हुआ वह परम दिव्य भगवद् धाम को प्राप्त होता है, जहाँ से पुनः इस संसार में आगमन नहीं होता। वह अनन्तांत ब्रह्मानंद में रमण करता है, यही वैष्णवों का तद्भवापत्ति मोक्ष है।

मन है-आत्मा की आँख

आचार्य (डॉ.) दासलाल ब्रह्मचारी

आत्मा की आँख मन है। आत्मा मन की आँखों से देखता है। सांख्य एवं योग शास्त्रों में आत्मा का नाम पुरुष प्रख्यात है। पुरुष सूक्त में आता है–

'सहस्रशीर्षा: पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपात्'

अर्थात् उस पुरुष अथवा परमात्मा के हजारों (असंख्य) सिर हैं, हजारों आँखें व पैर हैं। वही पुरुष सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आवृत करके उससे भी दस अंगुल आगे स्थित है। वह सर्वात्मा अपनी शक्ति से सब कुछ करने में समर्थ है। उपनिषदों में परमात्मशक्ति के विषय में आया है–

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, स: पश्यत्यचक्षु: शृणोत्यकर्ण:'

अर्थात् वह बिना हाथों के वस्तुओं को ग्रहण करता है। बिना पैरों के चलता है। बिना आँख के वह देखता है और बिना कर्णेन्द्रियों के सब कुछ सुनता है। गोस्वामी जी ने भी इन्हीं भावों को अपने शब्दों में व्यक्त किया है।

विनु पग चलै सुनई विनुकाना।
कर विनु कर्म करै विधि नाना।।

मनुष्य अपने भौतिक चक्षुओं से पाञ्चभौतिक पदार्थों को प्रकाश में ही देख सकता है। प्रकाश के अभाव में आँख के होते हुए वस्तुओं को नहीं देखा जा सकता। योगी के मन की आँखें खुली होती हैं। वह मन की आँखों से सृष्टि में दूर से दूर छिपी हुई व ढँकी हुई समस्त वस्तुओं को देखने की क्षमता रखता है। दूर दर्शन व दूर श्रवण की योग्यता योगी में स्वाभाविक होती है। मन से इस प्रकार से देखने की क्षमता को ही 'दिव्य दृष्टि' कहते हैं। वेदों में आत्म दर्शन की बात कही जाती है– **'आत्मा व अरे! द्रष्टव्य:'** आत्मा का दर्शन करना चाहिये। फिर साथ में यह भी कहा जाता है– **'विज्ञातारम् अरे! केन विजानीयात्'** जो सब को जानने वाला है उसे किस उपाय से जाना जाये? आत्मा को प्रवचन की कला से, बुद्धि कौशल से अथवा बहुत सुनने से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। जैसा कि मन्त्र है–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य:।
न मेधया न बहुना श्रुतेन।।

अर्थात् प्रवचन से, बुद्धि बल से अथवा बहुश्रुत होने से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। आत्मा जिसका वरण कर ले, जिसको अधिकारी समझे उसी के लिये अपना स्वरूप

प्रकट कर देता है। यही भाव राम चरित मानस में आया है–

ते जाने जिन्ह देहु जनाई, जानत तुम्हीं तुम्हीं हो जाई।।

अर्थात् परमात्मा को वे ही जानते हैं जिन्हें वे जना देते हैं। उनको जान लेने के बाद जानने वाला भी उनके स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

मन का रूप दो प्रकार का है। एक है मलिन मन तथा दूसरा है विशुद्ध मन। क्रियायोग से तथा प्राणायाम एवं ध्यान से मन के मल धुल जाते हैं। रजोगुण तथा तमोगुण ही मन के मल कहलाते हैं। विशुद्ध मन ज्यो ो का भी ज्योति है, अखण्ड ज्योति है। समस्त शक्तियों का भंडार है। ज्योतियों का भी ज्योति यह मन जाग्रतावस्था में तो दूर–दूर देशों में गमन करता है किंतु स्वप्नावस्था में भी यह भ्रमण करता रहता है। ऐसा ज्योतिर्मय मन शुभ संकल्प या शिव संकल्प वाला हो। हम मन में बुरा संकल्प कदापि न आने दें। मन की तरंगे चलती रहती हैं। जैसी मन की वृत्ति होती है वैसी ही तरंगे निकला करती हैं एक ही मन्त्र का निरन्तर जाप करने से एक ही प्रकार की वृत्ति तरंग प्रवाहित होती रहती है और वायुमण्डल (Eather) में विद्यमान रहती है और अपने सदृश वृत्ति तरंगों को आकर्षित करती रहती है। जिस स्थान पर कोई सिद्धयोगिराज काफी समय तक वास कर चुके हों वहाँ पर वह परमाणु तरंग बहुत दिनों तक प्रभावी रहती है। इसलिए सिद्ध पुरुषों से सेवित स्थल या सिद्ध पीठ पर ध्यान करने वालों का मन स्वतः एकाग्र हो जाया करता है। आनन्दकन्द श्री प्रभु जी अपने समय में उन साधकों को जिनका मन एकाग्र नहीं हो पाता था उन्हें ध्यानी गुरु भाईबहिनों के बीच बिठा दिया करते थे ऐसा करने से ध्यानी साधकों के तेजस्वी परमाणुओं के प्रभाव से उनका भी मन एकाग्र होकर समाहित होने लगता था। मठ, मन्दिर आदि गुम्बदाकार होते हैं ताकि शुभ परमाणु परिभ्रमण करते रहें।

ध्यानी लोग दूसरे के सूक्ष्म शरीर के ज्ञान को भी आकर्षित करके प्राप्त कर सकते हैं। किंतु अपने से शक्ति सम्पन्न योगी से इस प्रकार से नहीं कर सकते। गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्र मोहन जी महाराज इस प्रसंग में अपने समय का संस्मरण सुनाया करते थे। ऋषिकेश में शीशम झाड़ी में अवधूत केशवानन्द जी रहा करते थे। वे बड़े ही तेजस्वी महापुरुष थे। वे किसी 'कृष्ण' मन्त्र का जाप करते थे तो तुरंत कृष्ण में लय हो जाया करते थे। ब्र. गोपालानन्द जी ने ध्यान में इस बात का ज्ञान प्राप्त कर लिया। वे भी इस मन्त्र को जानना चाहते थे। उन्होंने अवधूत जी के सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करने का प्रयत्न किया किंतु अवधूत जी ने अपने सूक्ष्म शरीर में उनको प्रवेश होने नहीं दिया। उन्होंने अवधूत जी के सूक्ष्म शरीर को आकर्षित करने का भी प्रयास किया। किंतु इसमें भी वे असफल रहे। अब उनके पास एक ही उपाय था कि वे अवधूत जी से स्थूल में विनयपूर्वक प्रार्थना करके उस मन्त्र को प्राप्त कर लें। अवधूत जी ने उनके सूक्ष्म शरीर को आकृष्ट करने के प्रयास को जान लिया था। अतः थोड़े रूखे भाव से मन्त्र तो लिख कर दे दिया किंतु यह कहा– "यदि एक बार भी इस मन्त्र को

जायेगा तो तुम्हारी ध्यान स्थिति नष्ट हो जायेगी।'' ऐसा जानने पर ब्र. गोपालानन्द जी ने उस लिखे मन्त्र को तुरन्त फाड़ दिया। इस घटना से यह प्रमाणित होता है कि अपने से उच्च अवस्था वाले योगी से हम बलात् ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। श्रद्धापूर्वक विनय से ही उनके मनोराज्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ध्यान योग साधना के द्वारा जब बुद्धि निर्मल हो जाती है तब इसे ही बुद्धि 'सत्व' कहा जाता है। यह सत्व ही जब पूर्ण रूपेण दोष रहित हो जाता है तभी योगी कैवल्यभाक् हो जाता है। कैवल्य की परिभाषा करते हुए पतञ्जलि जी महाराज कहते हैं–

'सत्व–पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्'

बुद्धि एवं आत्मा की पूर्णरूपेण शुद्धि हो जाने पर कैवल्य अथवा मोक्ष होता है। तभी दृष्टा–आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। गीता में भी भगवान कृष्णचन्द्र जी महाराज ने क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ के सम्यक् ज्ञान के लिये 'ज्ञान चक्षु' ही हेतु बताया है–

'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरम् ज्ञान चक्षुषा'

अर्थात् ज्ञान चक्षु के द्वारा क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के विभाग को जो तत्वत: जानता है वह परम गति को प्राप्त हो जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी इस बात की पुष्टि की गई है–

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो।
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति।।

हृदय से, बुद्धि से, मन से ध्यान के द्वारा प्रत्यक्ष किये हुये आत्म तत्व को जो जानता है वे अमृत पद को प्राप्त हो जाता है। आत्मा का ही दूसरा नाम चेतना है। **'भूतानामस्मि चेतना'** कहकर भगवान ने चेतना को अपनी विभूति बताया है। इस चेतना के अत्यन्त सन्निकट होने के कारण बुद्धि आदि जड़वर्ग भी चेतनता को प्राप्त हो जाते हैं। मन एक प्रयोग शाला है जहाँ पर योग ध्यान की प्रक्रिया के द्वारा रजोगुण व तमोगुण को पूर्णत: हटाकर सतोगुण को प्रकाशित किया जाता है। ध्यान योग का विज्ञान ही **अध्यात्म–विज्ञान** कहलाता है। साधक को अपनी चेतना शक्ति का ध्यान योग द्वारा पूर्णतया विकास करके इसे विवेक ज्ञान या मुक्ति लाभ के लिये सदुपयोग करना चाहिए। इसी से योग विद्या की पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार से विशुद्ध मन ही आत्मा के ज्ञान का कारण या साधन बनता है। मन, बुद्धि चित्त एवं अहंकार का समवेत नाम अन्त: करण उपनिषदों में प्रसिद्ध है।

OOO

श्री सद्गुरु से दीक्षा आवश्यक–क्यों?

केशवदेव उपाध्याय

भौतिक सुख–सुविधाओं के इस घोर कलिकाल में आज का प्राणी इतना व्यस्त है कि उसे यह सोचने विचारने का समय ही नहीं है कि वह यह सोचे की उसके इस नश्वर संसार मे जन्म लेने का औचित्य क्या है? परमात्मा की कृपा से यदि ऐसा सुयोग बना कि वह इस विषय वस्तु पर सोचे, तो वह किसी निष्कर्ष पर नही पहुँचता। वह मान लेता है कि प्राणी का जन्म केवल स्त्री–पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध पर आधारित है। हालांकि उसकी यह सोच पूर्णतः सही नही है। बाकी सभी योनियों में जन्म तो कर्म संस्कार के भुगतान के लिये होता है परंतु मनुष्य योनि जन्म–मरण के चक्कर से छुटकारा पाने के लिये सद् कर्म करके एवं मुक्त होने के लिए परमात्मा द्वारा दिया गया एक अवसर है। इस योनि में कर्म संस्कार का भुगतान भी होता है तथा प्राणी पुण्य कर्म करके जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा पा सकता है। पुण्य कर्म द्वारा, आवागमन के चक्कर से मुक्त होने की विधि श्री सद्गुरु एवं केवल मात्र सद्गुरु को ही ज्ञात है। कोई दूसरा इसे नहीं जानता। अतः मुक्त होने की कामना रखने वाले प्राणी को श्री सद्गुरुदेव की शरण ग्रहण करना उतना ही आवश्यक है, जितना जीवित रहने के लिये श्वास लेना। प्राणी मात्र को अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं है एवं उसे उसकी स्थिति का बोध श्री सद्गुरुदेव ही कराते है। एक योग साधक ने, इस रहस्य को समझाने के लिये, एक उदाहरण दिया था, उसका वर्णन इस तथ्य को समझाने के लिये यहाँ करना समीचीन होगा।

एक जंगल में शेर–शेरनी रहते थे। उनको एक बच्चा पैदा हुआ। शेर का बच्चा जब कुछ दिन का हो गया, तो वे उस बच्चे को साथ लेकर जंगल में घूमते थे। इस जंगल से मात्र डेढ़–दो किलो मीटर की दूरी पर आबादी थी एवं उस गाँव का एक आदमी अपने भेड़ एवं बकरियों को जंगल के किनारे ही चराया करता था। जब शेर–शेरनी के आने की आहट उस भेड़ियारे को लगती थी या जब उसकी दहाड़ उसे सुनायी देती थी, तो भेड़ियारा जोर से चिल्लाता था, "भागो शेर आ गया।" उसकी यह आवाज सुनते ही उसकी भेड़ और बकरियां दौड़ कर उसके घर आ जाते थे। यह उसका दैनिक कर्म था। एक दिन संयोग ऐसा बना कि शेर अपने नवजात शिशु के साथ जंगल के किनारे घूम रहा था, शेर का शिकार करने वाले भी, इसी किनारे मचान (बाँस की छत) पर शेर के आने का इंतजार कर रहे थे। भेड़ियारा (गड़ेरिया) भी जंगल के इसी तरफ अपनी भेड़ और बकरियों को चरा रहा था। जब गड़ेरिया को शेर के वहाँ आने का आभास हुआ, तो वह जोर से चिल्लाया, "भागो, शेर आ गया।" इसी

समय शिकारी ने भी शेर को निमित्त कर गोली चलाई जो शेर को नहीं लगी। शेर जंगल में विद्युत गति से भाग गया। चूंकि शेर का शिशु अभी छोटा था, अतः उस गति से उसके साथ नहीं जा सका। इधर भेड़ एवं बकरियाँ धीरे-धीरे भाग रही थी, अतः शेर का बालक इसी गिरोह के साथ भाग कर गड़ेरिया के घर आ गया एवं उसी गिरोह में रात भर रहा। अन्धेरा हो चला था, अतः उस समय गड़ेरिये को इस बात का ज्ञान नहीं हो सका। सबेरा होने पर गड़ेरिये को इसकी जानकारी हो गई। उस दिन, वह सोचता रहा की क्या किया जाये? उसे कोई विकल्प समझ में नहीं आया, अतः उसने तय किया की भगवान जो करेगा, वही होगा एवं ठीक ही होगा। भेड़ एवं बकरियों के साथ यह भी पोषित होगा।

गड़ेरिये का दैनिक कर्म ही भेड़-बकरियों को जंगल के किनारे चराना था। वह अपना कर्म करता रहा एवं उस गिरोह के साथ शेर का बच्चा भी पलता रहा। उसकी आवाज एवं स्वभाव में भी परिवर्तित हो गया। जंगल के किनारे चरते समय, जब भी गड़ेरिया आवाज लगाता, "भागो शेर आ गया" शेर का बच्चा भी उसी गिरोह के साथ भागकर उसके घर आ जाता। उधर शेर-शेरनी परेशान थे एवं उन्होंने देख लिया था कि उनका बच्चा भेड़-बकरियों में है एवं उन्हीं के समान व्यवहार कर रहा है। जब भी शेर-शेरनी जंगल के किनारे जाकर अपनी भाषा में बुलाने का प्रयत्न करते, गड़ेरिया आवाज लगा देता एवं शेर का बालक भेड़-बकरियों के दल के साथ भाग जाता। करीब चार महिने का समय बीत गया, शेर-शेरनी के बार-बार बुलाने पर भी उनका बालक उस दल से जंगल में नहीं आ रहा था। शेर ने एक उपाय सोचा एवं उसी के अनुसार कार्य किया।

अगले दिन गड़ेरिया द्वारा भेड़-बकरियों के समूह के जंगल के किनारे आने के काफी समय पूर्व वह शेर किनारे ही एक झाड़ी के पास छिपकर बैठ गया। भेड़-बकरियों का समूह आया, जिसमें शेर का बच्चा भी था एवं जंगल किनारे चरना आरम्भ किया। शेर का बच्चा जब शेर के नजदीक (जंगल किनारे) आ गया, तो जब तक गड़ेरिया आवाज लगाता, उसके पूर्व ही शेर ने छलांग लगायी एवं अपने बच्चे को पकड़ कर तीव्र गति से घनघोर जंगल में चला गया, जहाँ शेरनी थी। शेर का बालक काफी डरा हुआ था एवं उसे अपनी मृत्यु दिखलायी दे रही थी। वह थर-थर काँप रहा था। शेर-शेरनी ने अपने बालक को अपने बीच में बैठाया एवं कहा कि तुम हमारे ही बच्चे हो। हम जंगल के राजा-रानी है एवं तुम राजकुमार हो। कई बार प्रयत्न करने के बाद भी शेर का बालक यही कहता, 'भागो शेर आ गया' एवं भागना आरम्भ कर देता था एवं शेर-शेरनी उसे पकड़ कर अपने बीच बैठाते थे। जब उसका भय समाप्त नहीं हुआ, तो शेर-शेरनी उसे साथ लेकर शिकार पर निकलते। एक शिकार करता एवं दूसरा अपने बच्चे को उत्साहित करता। कुछ महिने ऐसा करने के बाद शेर-शेरनी ने उसे दहाड़ना सिखाया एवं फिर उसी से शिकार कराने लगे। उनके काफी प्रयास एवं अभ्यास के बाद शेर का बालक अपने को शेर समझ पाया।

हम परात्पर सत्ता की सन्तान हैं एवं अपने को उससे अलहदा मान रहे हैं। यह प्राणी मात्र का दोष नहीं है, बल्कि सर्व समर्थ भगवान की त्रिगुणमयी माया का प्रभाव है, जो हमें वास्तविकता का बोध नहीं होने देती। शेर ने जिस प्रकार अपने बालक को शेर होने का बोध करा दिया, उसी प्रकार श्री सद्गुरुदेव माया जाल में फंसे प्राणियों को वास्तविकता का बोध करा देते हैं। परन्तु सावधान रहने की जरूरत है, किसी को मंत्र देने से कोई गुरुदेव तो बन जायेगा, परन्तु श्री स गुरुदेव की पदवी तो उसे ही मिलेगी, जिसमें परासत्ता प्रस्फुटित होगी। ऐसे श्री सद्गुरुदेव के लिये ही कहा गया है-

राम कृष्ण से को बड़ो, उन्हऊँ तो गुरु कीन्ह।

अपने सारे करम वो, गुरु आज्ञा से कीन्ह॥

अनादि काल से गुरु महिमा का वर्णन किया जाता रहा है। आज भी हो रहा है और आगे भी होता रहेगा। श्री गुरुदेव का शरीर ही पूजनीय नहीं है, श्री गुरुदेव भगवान सबसे बड़े देव है। श्री गुरु तत्व सबसे बड़ा तत्व है। उससे बड़ा तत्व न तो कोई है और न होगा।

जैसे शालिग्राम शिला में परमात्मा की भावना की जाती है अथवा एक धातु-मूर्ति में प्रभु तत्व की भावना की जाने पर उसमें परमात्मा का प्रकाश होकर भक्त को सब कुछ प्राप्त होता है वैसे ही गुरु तत्व की गुरु के शरीर में महान ब्रह्म से भी बड़े सतगुरु तत्व की उपासना की जाने पर शिष्य को सब कुछ प्राप्त होता है। इसका प्रमाण एकलव्य भक्त का चरित्र है। द्रोणाचार्य ने उसे विद्या सिखाने से इनकार किया किंतु बालक एकलव्य ने श्रद्धा भक्ति से गुरु द्रोण की मिट्टी की प्रतिमा बना ली और उसी के द्वारा उसे समस्त विद्यायें प्राप्त हो गई।

यहाँ तक कि जब साक्षात् परात्पर ब्रह्म भी भूतल पर अवतार लेते हैं तो श्री राम और श्री कृष्ण रूप में आने पर वे भी गुरुदीक्षा लेते हैं गुरु के बिना किसी की प्रगति हो ही नहीं सकती। गुरु करने से पहले खूब सोच विचार कर खूब अच्छी तरह छानबीन करके जांच लेना चाहिए तब गुरु करना चाहिए। गुरु कर लेने के बाद फिर उनकी परब्रह्म जैसे ही उपासना करनी चाहिए। उनके अन्दर दोष देखना महान पाप है। शिष्य की श्रद्धा ही प्रधान रूप से कार्य करती है। श्रद्धा भक्ति होने पर गुरु की कृपा का पूर्ण प्रकाश प्रकट होता है। यहाँ तक कि मूर्ख से मूर्ख शिष्य भी महान बन जाता है। बिना पढ़े विद्या प्राप्त हो जाती है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तमाल' के रचियता श्री नाभा जी को बिना पढ़े ही विद्या आ गई थी एवं दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई थी उनके गुरु श्री अग्रदास जी महाराज ध्यान मग्न थे। नाभा जी पंखा कर रहे थे। इतने में अग्रदास जी के शिष्य एक राजा का जहाज समुद्र में डूबने लगा। राजा ने प्राण संकट के समय गुरु का ध्यान किया। अग्रदास जी ध्यान में भगवान श्री राम जी का श्रृंगार कर रहे थे। राजा के पुकारने पर अग्रदास जी का ध्यान खिंचा किंतु नाभा जी ने तुरंत योगबल से उस जहाज को समुद्र में डूबने से बचा लिया और पार लगा दिया एवं बोले कि "गुरुदेव जी आप भगवान के श्रृंगार से मन को मत हटाइये जहाज को मैंने पार लगा

दिया, जब ध्यान समाप्त हुआ तो अग्रदास जी ने कहा, बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम्हारा यहाँ तक प्रवेश हो गया कि मेरे मन की बात भी देखते हो और समुद्र में डूबते जहाज को भी देख लिया तथा अपनी शक्ति से पार भी कर दिया। साथ ही मेरे सेवा में खड़े पंखा भी कर रहे हो। श्री नाभा जी ने कहा, "गुरुदेव! मैं वही हूँ जिसे पाँच वर्ष की आयु से आपने अपना जूठन खिला–खिला पाला है। यह आपकी सेवा का ही प्रताप है कि मुझे ऐसी शक्ति प्राप्त हो रही है।"

उसी समय अग्रदास जी ने आज्ञा दी कि अब तुम "भक्तमाल" नामक ग्रन्थ की रचना करो। इस प्रकार गुरु भक्ति से अद्भुत शक्तियां प्राप्त होती देखी जाती हैं। इसलिए तो गोस्वामी दास जी ने मानस में लिखा है–

श्री गुरु पद नख मणि गण ज्योति।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।।

गुरु की कृपा से ही गोस्वामी जी ने श्री रामचरित्र मानस की रचना की। इसी प्रकार सूरदास जी को भी पहले प्रकाश नहीं था। जब श्री बल्लभाचार्य जी को गुरु बनाया तो उन्हें भी दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई तथा श्री कृष्ण चरित्र की रचना वे कर सके।

वे अपनी दिव्य दृष्टि से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों की बातें बता देते थे। एक दिन सूरदास जी की दिव्य दृष्टि की परीक्षा के लिए पुजारियों ने श्री नाथ जी का श्रृंगार किया ही नहीं, केवल लंगोटी पहना दी और मुख पर दही लगा दिया, तदन्तर स्वरूप को एक मोती की माला पहना दी; साथ ही लोगों को सिखा दिया कि बाबा श्री सूरदास जी से कहना है कि आज वस्त्राभूषण बहुत सुन्दरता से सजाये गये हैं, जब सूरदास जी आये तो उन्होंने पदगान किया, "आज उघारे हैं नन्दलाल"।

इस प्रकार सूरदास जी को भी गुरु कृपा से दिव्य दृष्टि एवं श्री कृष्ण की प्राप्ति हुई थी। गुरु में भक्ति तथा सेवा भाव हो, साथ ही में गुरु के वचन पालन में तत्परता हो, तब काम बनता है।

गुरु–भक्ति का विलक्षण प्रभाव है। इस समय भी गुरु भक्ति के द्वारा कितने ही भक्तों को दिव्य अनुभव हो रहे हैं, जिसका वर्णन करने के लिए इस छोटे से लेख में जगह नहीं है। इसके लिए तो स्वतंत्र विशाल ग्रन्थ लिखा जाये, फिर भी कम है। हमारे गुरुदेव के यहाँ मैंने स्वयं सैकड़ों चमत्कार देखे। कितने ही पुत्रहीनों को पुत्र मिले और कितने ही दरिद्र धनवान हो गये। कितने ही मरणासन्न रोगी रोग मुक्त होकर बलिष्ठ हो गये। गुरुदेव भगवान स्वयं त्रिकालदर्शी हैं।

जो भी नर–नारी बाल वृद्ध रोगी आया, प्रभु जी ने सबको बड़े प्रेम से गले लगाया, तत्काल ही सब का समाधान हो गया–ऐसी अनेकों घटनायें प्रत्यक्ष आज भी देखी सुनी जाती हैं। कमी है तो अपनी कमी है। हमारा हृदय प्रपंचों से ग्रसित होने के कारण बहुत

मलिन हो रहा है। इसलिए गुरु के प्रति श्रद्धा का भाव उदय नहीं हो रहा है। वास्तव में गुरु तत्व में एवं गुरु कृपा में कमी नहीं है।

गुरुदेव भगवान प्रायः कहा करते थे, ''माण्डे मिले, लेकिन फूटे'' इधर से ज्ञान भरता हूँ उधर से सब खाली हो जाते हैं।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि इस दुःखालय संसार में एक अमूल्यनिधि हम लोगों को प्राप्त है, वह है गुरुदेव शरण, गुरुदेव नमामि, अर्थात गुरु कृपा जो प्राणी को इस दुरूह आवागमन के काल चक्र से मुक्त कर देती है। जिन्हें इस अलौकिक निधि की प्राप्ति हो गई वे धन्य हैं।

अजहूँ करें गुरु–भक्ति जो सेवा में मन देय,
चमत्कार देखै दृगन, सकल पदारथ लेय॥

हार गया गुरुदेव, मैं तो हार गया !

जगदीश राए बंसल ''अधम''
उत्तम नगर, देहली

हार गया गुरु देव, मैं तो हार गया
मेरे जीवन में अन्धेर, गुरु जी मैं हार गया।
योगयोगेश्वर लीलाधारी, माँ चरती बड़े भागों वाली।
पं. देवी राम के लाल, मैं तो हार गया। हार गया––––
भजन भाव में त्रुटि है, ध्यान धारणा रूठी है।
आ कर करो सुधार, मैं तो हार गया। हार गया––––
व्याकुल है मन बड़ा भारी,
दृश्य दिखाओ हे अवतारी।
कर दो शक्ती संचार, मैं तो हार गया। हार गया––––
आशा मेरी पूरी कर दो, जन्म–जन्म की शक्ती भर दो
ओ सिद्धों के सरदार, मैं तो हार गया। हार गया––––
दीक्षा दे कर अपना किया, शिक्षा दे कर मन हर लिया।
रख दो सिर पर हाथ, मैं तो हार गया। हार गया––––
चरणों में तेरे गंगा बहती, दिव्य दृष्टी सदा ही रहती
दे दो चरणोदक प्रसाद, मैं तो हार गया। हार गया––––
योग के पतन्जली जी हो, गीता के श्री कृष्ण जी हो।
जय हो त्रिलोकी सरकार, मैं तो हार गया। हार गया––––
मुझ में ना भजन की शक्ती, कैसे होगी मेरी मुक्ती
ओ भण्डारी का 'अधम' कंगाल, मैं तो हार गया। हार गया––––

गीता का ज्ञान कर्मसन्यास योग

पं. कृष्ण कुमार पाण्डेय, गोरखपुर

गीता जहाँ एक ओर प्रस्थान त्रयी में महत्वपूर्ण है। वहीं सामाजिक जीवन जीने का दर्पण है। अर्जुन के माध्यम से भगवान ने सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रुप से चलाने का क्रमिक सोपान परस्तुत किया है। इससे व्यक्ति के जीवन में अध्यात्म का विकास होता चला जायेगा। व्यक्ति के जीवन में ज्ञान, कर्म और न्यास का महत्वपूर्ण स्थान है। गीता के माहात्म्य में कहा गया है कि–

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः।
पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतमहत्।।

अर्थात् गोपालनन्दन भगवान कृष्ण ने सभी उपनिषदों को गायों के रूप में दुहा तथा अर्जुन गाय को पेन्हाने वाला सुधी बछड़े का कार्य किया, जिससे गीता रूपी अमृत उत्पन्न हुआ है।

योग की परम्परा पुरानी है। यह योग कल्प के प्रारम्भ में सूर्य से कहा गया था। सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा। मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार यह योग परम्परागत योग्य एवं पात्र लोगों को प्राप्त होता रहा। किंतु जब पात्रता की गति समाप्ति सी हो गयी तो यह लुप्त सा हो गया। उस लुप्त योग को भगवान ने अपने योग्य शिष्य अर्जुन को पात्र जानकर दिया। क्योंकि अर्जुन के बारे में कहा गया पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता। वस्तुतः सुधी भोक्ता को ही रहस्य की बात बतायी जाती है। जो उसके पात्र नहीं होते उससे कहने से उसका अर्थ नहीं होता है। भगवान ने जब यह कहा कि उस गोप्य और रहस्य युक्त विद्या को तुमसे कह रहा हूँ, तो अर्जुन को भ्रम हुआ कि कृष्ण का जन्म तो हम लोगों के साथ का है। किंतु ये पुरानी बात कह रहे हैं। अर्जुन का संशय भी बहुत कुछ ठीक है। क्योंकि शिष्यता तो अभी युद्ध के मैदान में ग्रहण किया तो रहस्य की बात को पहले कैसे जान सकता है। जैसे जब तक हम सब सद्गुरुदेव के सम्पर्क में नहीं थे तो योग क्या है? इसका ज्ञान नहीं था। यदि किसी को कुछ ज्ञान रहा हो तो भी सतही ज्ञान था। योग के रहस्य का ज्ञान तो सिद्ध सद्गुरु के द्वारा ही संभव है। अर्जुन को कृष्ण तो मिले पहले लेकिन सद्गुरु के रूप में महाभारत के मैदान में मिले। भगवान ने अर्जुन को बताया कि– अर्जुन हमारे और तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं। इस बात को तुम नहीं जानते हो, लेकिन मैं जानता हूँ। इस बात को कोई योगी ही जान सकता है। पुनः अपने जन्म के कारण को बताया–

यदा–यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युथानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधुनां विनाशायच दुष्कृताम।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे–युगे।।

अर्जुन इस बात को सुनकर परेशान हो गया होगा। सद्गुरु देव भगवान जब प्रवचन करते थे। तो बार–बार हम साधकों को चेतावनी देकर यह बात कहते थे कि–देखो इतनी साधना कर लो कि अपने मृत्यु का ज्ञान तथा पिछला ज्ञान हो जाये। यह बात सुनकर एक बार साधक के मन में भ्रम की स्थिति तो हो ही जाती थी कि मृत्यु का ज्ञान हो जाये। यह और रहस्य की बात है। योग वस्तुतः अज्ञानता की हर गाँठ को खोल देती है। लेकिन हम साधक समुदाय गुरुदेव के समसामयिक रहस्य की बात को नहीं जान पाते। यद्यपि गुरुदेव दूरगामी परिणाम को जानकर साधकों को चेताते रहते थे। हम साधकों की क्षीणवीर्यता का द्योतक है कि उनके कथनानुसार करते नहीं। वैसे साधक की विभिन्न श्रेणियाँ है सब एक समान नहीं तथा एक ही तरह के कर्म वाले नहीं हो सकते। जिज्ञासु वृत्ति वालों की अलग गति मति होती है। कुछ ऐसे भी साधक होंगे जो अपने मृत्यु के बारे में जानते होंगे। क्योंकि **''जिज्ञासुरपियोगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते''**।

इसी क्रम में भगवान ने कहा कि– इस संसार में जो मनुष्य जिस प्रकार मुझे भजता है, उसी प्रकार मैं भी उसका भजन करता हूँ। जो जिस वृत्ति का होता है उसको उसी प्रकार का फल प्राप्त होता है। जो मेरे तत्व को अर्थात् (ईश्वरीय सत्ता का बोध होना। यह बोध साधक को स्वाभाविक रूप से साधन के काल में होता ही है।) नहीं जानते वे कर्मों के फल को ही मात्र चाहते हुए अन्य देवताओं का पूजन करते हैं। देवता भी उनके कर्म के अनुसार उनको सिद्धि प्रदान करते हैं। लेकिन उनको मेरी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए तुम मेरा स्मरण चिन्तन करते हुए अपने कर्म पथ में लगो। इससे तुम कल्याण के भागी बन जाओगे। कर्म के रूप की व्याख्या में ही भगवान ने कहा कि– कर्मों का न्यास (त्याग) नहीं करना चाहिए। क्योंकि मैंने पूर्व में ही गुण और कर्म के अनुसार समाज को वर्गीकृत कर दिया है। वर्गीकृत समाज के कार्य को भी निर्धारित कर दिया है। जिससे व्यक्ति अपने वर्ग में रहते हुए आत्म कल्याण की ओर अग्रसर हो। यद्यपि की समाज के समस्त कार्य को ईश्वर ही करता है। लेकिन वह कर्मों से लिपायमान नहीं होता है। जैसे परीक्षार्थी परीक्षा देता है। शिक्षक उसके कार्य का मूल्यांकन कर देता है। शिक्षक किसी भी प्रकार से परीक्षा तथा मूल्यांकन एवं फल में लिपायमान नहीं होता है। क्योंकि परीक्षाफल में उसकी कोई हिस्सेदारी नहीं होती है। मात्र साक्षी भाव से उस परीक्षार्थी का विकास कर देता है। इससे शिक्षक को प्रसन्नता होती है।

व्यक्ति के जीवन में विभिन्न प्रकार के कार्य आते रहते हैं। व्यक्ति इन कर्मों को अपने

ज्ञान और बुद्धि द्वारा उस कर्म को भी अपना कर्म न मान करके परमात्मा के कर्म मानकर करना चाहिए। उसके परिणाम के बारे में पहले से किसी निष्कर्ष को नहीं निकालना चाहिए। क्योंकि किसी भी कर्म का कुछ न कुछ परिणाम होता है। यह भी निश्चित है कि अच्छे कर्म का परिणाम भी अच्छा होता है। उस परिणाम को न सोचकर ईश्वरार्पित मानकर कर्म को करना चाहिए। ऐसा किया गया कर्म विकर्म हो जाता है। गीता में भगवान ने कहा–

कर्मण्य कर्म यः पश्येद कर्माणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत:।। 4/18

पुन: भगवान ने अर्जुन को सचेष्ट करते करते हुए कहा कि–

गतसंङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः।

यज्ञायाचरत: कर्म समग्र प्रविलीयते।। 4/23

भगवान ने अर्जुन को विभिन्न रूप से कर्मो को करने के बारे में बताया। कर्मो के त्याग की बात होनी ही चाहिए। उसी क्रम में योगियों ने विभिन्न प्रकार से कर्मों को करते हुए संसार के लोगों के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया है। उसमें अष्टांग योग, अध्ययन रूप ज्ञानयज्ञ, प्राणायाम, नियमित आहार, यज्ञयोग, ईश्वरार्पण बुद्धि तथा निष्काम कर्मयोग द्वारा संसार बन्धन से मुक्त होकर अमरता को प्राप्त कर गये है। अर्जुन इसीलिए तू भी अहंकार रहित हो उस ज्ञानियों की तरह निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जानो जिसको जान लेने पर किसी भी प्रकार का मोह तुमको भी नहीं होगा। क्योंकि मोह ही अज्ञानता के कारण उत्पन्न होता है। यदि तू उन योगियों की तरह कर्म करेगा तो मोह तुम्हें व्याप्त नहीं होगा। ज्ञान क्या है? इसके स्वरूप को बताते हुए कहा कि–

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्म सात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।। 4/37

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमहि विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।

इस ज्ञान को श्रद्धा वाला ही प्राप्त कर सकता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयितेन्द्रियः।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। 4/39

अर्जुन भगवत् विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धा रहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थ से स्वाभाविक रूप से भ्रष्ट हो जाता है। ऐसा शंकालु व्यक्ति न तो सुख प्राप्त कर पाता है। वह लोक तथा परलोक दोनों से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए तू इस युद्ध के बारे में किसी भी

प्रकार से शंका न करो। मोह से ग्रसित न हो। क्योंकि धर्म–युद्ध बड़े पुण्य के फल स्वरूप प्राप्त होता है। बिना किसी संशय के उस युद्ध में लग जाओ। मेरे सत्संगी साथियों हम लोगों के जीवन में भी अर्जुन की तरह शंकायें आती हैं ऐसे में गुरुदेव की वाणी तथा महर्षि पतंजलि का योग सूत्र-

''श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्''। 1/20

अर्थात् उपाय प्रत्यय का आश्रय ग्रहण कर भी किसी ठोस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है। यह उपाय श्रद्धा, वीर्य, स्मृति आदि है।

इस ज्ञानकर्म सन्यास योग की अन्तिम कड़ी में भगवान ने योग के माध्यम से प्रोत्साहित करते हुए कहा–

योगसन्न्यस्त कर्माणं ज्ञानसंछिन्न संशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।। 4/49

इस प्रकार भगवान ने अर्जुन के संशय को योग के माध्यम से छिन्न कर उसे ललकारते हुए कर्म में लगने को कहा है। इसी प्रकार यदि प्रत्येक व्यक्ति गुरुदेव के उपदेश को आत्मसात करते हुए श्रेय मार्ग की ओर अग्रसर होगा, तो गुरुदेव की शक्ति निश्चय ही उसे आत्म कल्याण की ओर अग्रसर कर देगा।

पद

भूपेन्द्र 'अंकुश' जलेसर

कर दईयौ पूरी आस हे रास बिहारी।
आती जाती श्वाँस श्वाँस से निकले रटनतिहारी।। टेक।।
गंगा–जमुना के मैदां में; जंगल में या रेगिस्तां में,
या कि रहें हम किसी जहां में भजन करें भयहारी।। 1।।
रोज खिले सुमिरन की जूही; मन की वीणा बोले तू ही;
हृदय में खुशबू–खुशबू ही भर जाये प्यारी प्यारी।। 2।।
राम नाम में नित जी जीकर; चरण कमल अमृत पी पीकर
द्वेष–जलन–ज्वाला ठण्डी कर गुजरे उमर हमारी।। 3।।
लोकों से ऊपर उठ जायें; और और ऊँचे उठ जायें;
कर्मों के बन्धन टूट जायें फिर न बने संसारी।। 4।।

श्री प्रभु चरणों में समर्पित

राजेश कुमार सिंह, बलिया

ये वादा करो तुम, हमें बख्श दोगे,
या नजरों में रखकर ही, सजा सख्त दोगे,

1. जीवन तूफानों के बीच पल रहा है,
चिंता की चिता में, दिल जल रहा है;
पथ चलते–चलते, पग डिग जाते,
मन खुब खुद को, खुद छल रहा है;
अब तो सम्भल जाऊँ, जरा वक्त दोगे,
या नजरों में...........

2. आशा न विश्वास, मुझमें बचा है,
कांटो का जाल इस, दिल में रचा है,
वीरान राह और, अति दूर मंजिल,
अश्कों की धार मेरा, यार सचा है,
रहमत का मुझे, तुम तख्त दोगे,
या नजरो में...........

3. चमन जबसे छूटा, ये हाल हुआ,
दर्द जिगर कभी, लिया नहीं दुआ;
उंगलियां उठी, बस, इल्जाम पाया,
खिजां की ये खाई, कयामत का कुंआ;
प्यार की छाया, जबरदस्त दोगे,
या नजरों में...........

4. हंसता हूँ, रोता हूँ, अपनी करम से,
कफस में पड़ा हूँ, जुल्मो सितम से,
मुझे अपना लो, ऐ! जग के मालिक,
गले से लगाकार, जोड़ो धरम से,
इनायत होगी, न छोड़ जख्म दोगे,
या नजरों में...........

5. डूबते को तिनका, सहारा तुम्हीं हो
माझी की कश्ती का, किनारा तुम्हीं हो,
मेरे जैसे जिनको भी, मारा है गम ने,
अंधेरे में शमां ले, पुकारा तुम्हीं को,
राजेश को प्रभु, वरद हस्त दोगे
या नजरो में——
ये वादा करो तुम

कर्म गति टारे नहीं टरे

डा. जे.पी. शर्मा, पौंटा साहिब (हिमाचल प्रदेश)

मनुष्य जन्म से मृत्यु पर्यन्त अनेकों कार्य करता रहता है। कार्य करना ही कर्म करना कहा जाता है। यह कार्य प्राणी के अपने शरीर से सम्बन्धित होते हैं। कुछ कार्य उसकी आवश्यकताओं, मर्यादाओं दिन प्रतिदिन को जीविका चलाने, परोपकार करने, हिंसा इत्यादि से संबंधित होते हैं। कभी मनुष्य जाने-अनजाने में कर्म कर बैठता है जिसका अहसास कार्य करने के पश्चात् ही उसे ज्ञात होता है। यह कर्म उसके स्वयं के, समाज के, देशहित के हो सकते हैं। प्राणी द्वारा किये गये कर्मों का फल दो प्रकार का होता है। कर्म का फल शुभ या अशुभ हो सकता है। शुभ कर्म प्राणी मात्र को सुख देने, शान्ति देने वाला, पूर्ण सन्तुष्टि दायक होता है, जबकि अशुभ कर्म सदैव पीड़ादायक, दुःख देने वाला, अहितकर, हिंसक हुआ करता है। हम यदि अपने रोजाना के कर्मों का निरीक्षण करें तो कर्मों को प्रायः तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं-

1. **संचित कर्म**- संचित कर्म वे होते हैं जो जाने-अनजाने में गत जन्मों में किये जा चुके हैं उनका भुगतान नहीं हुआ है। ऐसे कर्मों का प्रभाव हल्का, निर्बल अथवा कर्म प्रभाव वाला होता है। अतः हमारी अन्तः चेतना के किसी कोने पड़ा रहता है। ऐसे कर्म दबाव में, लाचारी में, विवशता में, मन को मारकर किये जाते हैं, जिन्हें करने को हमारा मन चाहता तो है नहीं, पर किसी के दबाव में करना पड़ा। अतः उनके कार्य का संस्कार भी हल्का, कमजोर कर्म प्रभाव वाला होता है। ऐसे कर्म जन्म-जन्मान्तरों के संचित हो जाया करते हैं तथा सैकड़ों-हजारों वर्ष तक दबे हुए अन्तः चेतना में पड़े रहते हैं। जब तक संचित कर्मों को प्रकट होने का कारण नहीं मिलता, अकर्मण्यता से पड़े रहते हैं। किंतु कभी स्वेच्छा से, मनोयोग से, हमने कोई पाप कर्म कर दिया तो संचित कर्म, सड़े-गली अवस्था वाले भी, पाप कर्मों के भुगतान के साथ जागृत हो उठते हैं। जिस प्रकार घुना बीज भी अच्छी मिट्टी तथा नमी पाकर उग जाया करता है, उसी प्रकार संचित कर्म भी अपनी जाति के बलवान कर्मों की सहायता से उग जाते हैं। हम सोचते है कि मैंने तो अपने जीवन काल में कभी ऐसा किया ही नहीं है। परंतु यदि कभी इन्हें अपनी जाति से भिन्न बलवान कर्म-संस्कारों के साथ काफी समय तक रहना पड़े तो संचित कर्म संस्कारों का नाश भी हो जाता है, ठीक उसी तरह जैसे गर्म जगह में रखा पानी का घड़ा, गर्मी के प्रभाव के कारण सूख जाया करता है। अतः उत्तम संस्कार ज्यादा संचित हो रहे हों तो बुरे संचित संस्कार प्रायः नष्ट हो जाया करते हैं। यथा-

कबिरा संगत साधुकी, हरे और की व्याधि।
संगत बुरी असाधु की, जहाँ आठो पहर उपाधि।।

अतः सज्जन पुरुषों के साथ रहने से दूसरों के दुःख दर्द भाग जाते हैं तथा दुष्ट लोगों का साथ हमेशा दुःख देने वाला होता है। कहा भी जाता है। ''जैसा संग, वैसा रंग।''

अतः भले, बुरे संचित संस्कार अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर फलदायक होते हैं तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रायः नष्ट हो जाया करते हैं।

2. प्रारब्ध कर्म– जो कर्म स्वेच्छापूर्वक, जानबूझकर, तीव्र भावनाओं के साथ, पूर्ण मनोयोग से किये जाते हैं, उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं। यह कर्म विशेष मन की भावना से किये जाते हैं इसलिए इनका संस्कार भी बलवान होता है। डकैती, चोरी, व्याभिचार, दुराचार, धोखा, अनाचार, खून खराबा, युद्ध, हत्या जैसे क्रूर कर्मों की प्रतिक्रियायें अन्तःकरण में बहुत ही तीव्र होती हैं। अतः इन विजातीय प्रतिक्रियाओं को बाहर निकाल देने के लिये मन में भावनायें बन जाती हैं तथा एक न एक दिन उन्हें बाहर निकाल दिया जाता है। प्राणीमात्र से प्रारब्ध कर्म संस्कार अवश्य ही भोगना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है।

3. क्रियमाणा कर्म– शरीर से संबंधित कर्म क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। इनका फल साथ का साथ ही मिला करता है। जहर खाकर, मृत्यु हो गई, आग से शरीर झुलस गया, बासी–सड़ा गला खाना खाकर बीमार हो जाना, उल्टी–दस्त हो जाना इत्यादि। हमारा शरीर भौतिक तत्वों से मिलकर बना है अतः क्रियमाण कर्मों से शरीर में परिवर्तन आवश्यक है। यह कर्म वर्तमान में ही किये जाते हैं तथा वर्तमान में ही उनका फल भुगतान भी होता है। इन कर्मों के लिये मन की उपस्थिति नहीं होती है। यह कर्म शरीर के लिये ही किये जाते हैं तथा इनका संस्कार शरीर ही भोगा करता है। इन कर्मों का फल निश्चित होता है, इन्हें भोगने में अधिक समय नहीं लगता है। ''**कर्तम सो भोगतम्**'' अर्थात् जो करेगा उसको फल अवश्य भोगना पड़ेगा। अतः कर्म का परिणाम ही 'भोग' है। यथा–

जैसे कर्म करेगा बन्दे वैसा ही फल पायेगा।
बोया पेड़ बबूल का तो आम कहाँ से खायेगा।।

अर्थात् मनुष्य अपने कर्मों का फल ही भोगा करता है। बबूल की पौध लगाकर आम पैदा नहीं हुआ करते। बबूल तो कांटे ही देता है। अतः कहावत है– 'जैसा बोयेगा वैसा पायेगा'। श्री मद्‌भागवतगीता में भगवान कृष्ण ने कहा है–

कर्म त्याग संभवतु नाहीं। करम करे नर छन छन माहीं।।
प्रकृतिजन्य गुन बस सब होई। करम करन्ह महँ पर बस होई।। 3/5

अर्थात् निःसंदेह कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है।

गुण–दोष के आधार पर कर्म चार प्रकार के होते हैं–

1. पुण्य या शुक्लकर्म– ये वह कर्म होते है जिनका परिणाम सुख दायक आनन्द देने वाले होते है। अपने के साथ–साथ दूसरों को सुख शान्ति देते है। जैसे– भजन, कीर्तन, तीर्थ यात्रायें, देव दर्शन, हवन–यज्ञादि, दान, दयालुता, स्वाध्याय, धर्म ग्रन्थों का पठन–पाठन इत्यादि।

2. पाप या कृष्ण कर्म– जिन कर्मो के करने से दूसरों को पीढ़ा, दु:ख मिले, उन्हें पाप या कृष्ण कर्म कहा जाता है। दूसरों को पीटना, मारना, हिंसा करना, आघात करना, चोरी करना, झूठ बोलना, धार्मिक कर्मो की आलोचना करना, पुण्य कर्मो मे रुकावट डालना इत्यादि कृष्ण कर्म कहे जाते है।

3. पुण्य तथा पाप मिश्रित कर्म– ये ऐसे कर्म होते हैं जिन्हे प्राणी अपनी दैनिक चर्या में प्राय: किया करते हैं जिनका फल भी सुख तथा दु:ख से मिला हुआ करता है। इन्हे शुक्ल तथा कृष्या कर्म भी कहा जाता है। जैसे– कहीं सड़क बनाई जा रही है, अत: सड़क के लिये जिन–जिन लोगों की जमीन ली गयी है, उन–उन लोगों को सड़क बनाना दु:ख दायी लगता है क्योंकि उनकी जमीन सड़क में चली गयी है, परन्तु जिन लोगों की जमीन नही गई है उन्हें सड़क बनाना पुण्य दायक लगेगा। आने–जाने का लाभ तो प्राय: सभी को मिलेगा। कोई मनुष्य चोरी करता है तथा चोरी करके किसी दूसरे की सहायतार्थ चोरी का माल दे देता है, ऐसा कर्म पुण्य तथा पाप मिश्रित कहा जाता है।

4. पुण्य–पाप रहित कर्म– इन्हें अशुक्ल तथा अकृष्ण कर्म भी कह सकते है। ऐसे कर्म साधारण मनुष्यों के नही हुआ करते। यथा

कर्माशुक्ला कृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। (पतंजलियोगदर्शन, 4/7)

अर्थात् योगी के कर्म अशुक्ल तथा अकृष्ण हुआ करते हैं। योगियों का कर्माशय पुण्य–पाप रहित हुआ करता है तथा कर्माशय चित्त शून्य होता है।

प्रत्येक प्राणी को अपने कर्मो का फल अवश्य भोगना पड़ता है। फल भोग के आधार पर कर्मो को फिर तीन भागों में रख सकते हैं–

1. सात्विक कर्म– प्राणी मात्र जो भी पुण्य, शुक्ल कर्म करता है जिसका परिणाम अपने को तथा दूसरो भी फलदायी, सुखदायी, आनन्ददायी होता है, उन्हें सात्विक कर्म कहते हैं। ऐसे कर्म प्राणी नि:सन्देह कर सकता है। सात्विक कर्म, सत्कर्म भी कहे जाते हैं। जिन कर्मो के साथ सत्यता छिपी रहती हैं, उन्हें ही सत्कर्म कहते हैं। प्रभु स्मरण, गीता पाठ, रामायण पठन–पाठन, स्वाध्याय, हवन, यज्ञादि, भजन–कीर्तन सब सत्कर्म श्रेणी में आते हैं।

2. राजस कर्म– जिन कर्मो के करने से सुख–दु:ख, मिश्रित फल मिलते हैं, राजस कर्म कहे जाते हैं। गृह स्त्रियों के कर्म प्राय: राजस कर्म हुआ करते हैं। राजस कर्म मे पुण्य और पाप का मिश्रण हुआ करता है। रसिक स्वभाव वालों के ऐसे कर्म होते हैं।

3. तामस कर्म– यह कर्म नीच प्रकृति के हुआ करते है। इन कर्मों परिणाम सदैव दु:खदायी, दूसरों को हानि पहुँचाने वाला, हिंसा देने वाला हुआ करता है। तामस कर्म ही पाप कर्म कहे जाते है। जैसे शिकार करना, माँस खाना, शराब पीना इत्यादि कर्म तामस स्वभाव के होते है प्राणी मात्र का जन्म ही कर्म भुगतान के लिय हुआ करता है।

कर्म की गति महान है। प्राणी मात्र का जन्म कर्मों के कारण ही हुआ करता है। जिनके कर्म शेष नहीं रहते वह आत्मायें जन्म के चक्कर में नहीं पड़ा करती, मेरा मत है इस ब्रह्माण्ड मे चौरासी लाख योनियाँ है जिनकी उपस्थिति उनके कर्मो के ही कारण है। सृष्टि चर–अचर, जीव–निर्जीव, स्थावर जंगम सभी अपने–अपने कर्मो का भोग, भोग रहे है। बिना कर्म के तो ईश्वर भी नही रहते। यथा–

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नान वाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्माणि।।

(गीता कर्म योग, 3/22)

भगवान श्री कृष्ण, अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहते है, हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकों मे न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म में ही बरतता हूँ अर्थात् कर्म करता हूँ।

अत: ब्रह्म, विष्णु, रूद्र, इन्द्र, देवता, दानव, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व सभी कर्मो के आधीन हैं, क्योंकि जीवों के सुख–दु:ख में भोग का जो कारण रूप देह सम्बन्ध है, वह कैसे होता? इसी कारण काल विपाक के योग से यथा समय अनेक जन्मों में किये गये संचित कर्मो का प्रभाव प्रकट हो जाता है। उसी तरह देवता भी करते हैं।

भगवान विष्णु के अंश से नर और नारायण ही श्री अर्जुन और कृष्ण के रूप में पैदा हुए हैं। जो प्राणी जितना वैभव वाला होता है, उसे देवांश कहा जाता है। जो ऋषि नही है काव्य नहीं लिख सकता, जो रूद्र नहीं है, रूद्र की पूजा नहीं कर सकता, जिसमें देवांश नही है, वह अन्न दान नही कर सकता तथा जिसमे विष्णु अंश नही, वह राजा नहीं बन सकता। अत: यह शरीर इन्हीं देवो की कृपा तथा पराक्रम, प्रभुत्व के कारण बनता है। प्राणी मात्र का शरीर सुख–दु:ख का भागी होता है इसी कारण शरीर कभी सुख तथा कभी दु:ख भोगता है।

किसी भी शरीरधारी जीव की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। सभी देवताओं के वश में रहा करते है। इसी कारण शरीर को जन्म–मरण, सुख–दु:ख होता है। देवों के वशीभूत होकर ही पाण्डव वन को गये तथा राज्य सत्ता प्राप्त की। अपने बाहुबल से ही उन्होंने राजसूर्य यज्ञ का आयोजन किया तथा पुन: वन गमन प्राप्त हुआ।

भगवान श्री कृष्ण का जन्म कारागार में हुआ तथा अपने पिता वसुदेव द्वारा गोकुल में नन्दबाबा के घर ले जाया गया। उनका गोकुल में ही पालन–पोषण हुआ। बाल–लीलायें की तथा अनेकों कार्य किये। लगभग ग्यारह वर्षो तक वहीं गोकुल में नन्द–यशोदा के पास रहे,

बाद में मथुरा चले गये, अपने माता-पिता देवकी तथा वसुदेव जी को कैसे कारागार से मुक्त कराया। अपने पूज्य नाना श्री उग्रसेन को मथुरा का राज्य दिलाया। बार-बार की लड़ाई तथा जरासिन्ध के भय से मथुरा छोड़ कर द्वारका चले गये। भगवान श्री कृष्ण ने यह सब महान कार्य आखिर देव के आधीन तथा कर्मों के कारण ही तो किये। ब्राह्मणों के शाप के कारण समस्त यादव गण पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, बहनों, भाइयों सहित प्रभाव क्षेत्र में नष्ट हो गये, अन्त में श्री कृष्ण भी बलिया व्याध के बाण से घायल होकर अपने धाम को चले गये। उसी प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का जन्म भी ब्राह्मणों, ऋषियों, गौओं के उद्धार के लिये ही तो हुआ था। देवर्षि नारद के शाप के कारण भगवान विष्णु को श्री राम रूप में अवतरित होना पड़ा। यह सब कर्मों के कारण ही तो हुआ। अतः कर्मों का भोग सभी प्राणियों तथा देव-दानवों को भोगना ही पड़ता है। अतः सत्य है कर्म की गति महान है तथा कर्म गति टारे नहीं टरती है।

श्री सद्गुरु तत्व के सादर पावन चरणों में मेरा बार-बार कोटि-कोटि नमन व सभी गुरु भाइयों को जय गुरुदेव जी के साथ।

●●●

साधना का सामान्य क्रम

विषयासक्ति वाली निम्न प्रकृति और उससे अपने मार्ग में पड़ने वाली बाधाओं के सोच में ही रहना भूल है। इस प्रकृति और उसकी इन बाधाओं का विस्तार साधना का अभावपक्ष है। इन बाधाओं को देखना, समझना और हटाना अवश्य है एक काम है, पर इस को सब कुछ समझकर इसी में सर्वात्मना सदा लगे रहना ठीक नहीं। साधना का जो भाव पक्ष है, अर्थात् परा शक्ति के अवतरण का अनुभव-वही मुख्य बात है। यदि कोई यह प्रतीक्षा करता रहे कि पहले निम्न प्रकृति सदा के लिए सर्वथा शुद्ध हो ले, तब परा शक्ति के आने की बाट जोही जाये, तो ऐसी प्रतीक्षा तो सदा करते ही रहना पड़ेगा। यह सच है कि निम्न प्रकृति जितनी ही शुद्ध होगी, उतना ही परा प्रकृति का उतर आना आसान होगा, पर यह भी सच है, बल्कि उससे भी अधिक सच है कि परा प्रकृति का उतरना जितना होगा उतनी ही निम्न प्रकृति निर्मल होगी। पूर्ण शुद्धि या स्थिर रूप से पूर्ण अवतरण एक बारगी ही नहीं हो सकता, यह दीर्घकाल में निरन्तर धैर्यपूर्वक क्रमशः ही होने का काम है। चित्त की शुद्धि और भगवच्छक्त्यवतरण दोनों का काम एक साथ चलता है और दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक स्थिरता और दृढ़ता के साथ दोनों एक दूसरे को आलिंगन करते हैं-साधना का यह सामान्य क्रम है।

-योगीराज महर्षि अरविन्द

अष्टांग योग

डॉ. ऋषिराम शर्मा, लखनऊ

जहाँ तक परमात्मा की कृपा का प्रश्न है, सो उसके स्वरूप की प्राप्ति ही अध्यात्म सिद्धि है। स्वयं परमात्मा स्वरूप श्री कृष्ण ने इस सिद्धि की प्राप्ति के लिए उपाय बताया है–

पुरुषः सः परः पार्थ भक्तया लभ्यः तु अनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।
सर्वभूतेषु कौन्तेय न मे द्वेष्योऽस्ति न च प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या ते यि तेषु चाप्यहम्।।
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य च मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्तः उपासते।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारवर्त्मनि।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।
मयि मनः आधस्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवस्यसि मय्येव अतः ऊर्ध्वं न संशयः।।
तेषामेवानुकम्पार्थ अहमज्ञानजं तमः।
नाशयामि आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वतः।।

अर्थात् वह परम पुरुष जिसमें प्राणीमात्र उसी तरह स्थित है जैसे सर्वत्र विचरण करने वाली वायु आकाश में स्थित है तथा जिससे सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है, वह केवल समर्पण–भक्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है। उस सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान पुरुष का न कोई प्रिय अथवा अप्रिय है अर्थात् सभी जीवात्माओं से समान सम्बन्ध है, फिर भी जो उसका भक्तिपूर्वक स्मरण करते है उनके हृदय में उसका तेज ज्ञानज्योति के रूप में प्रकट हो जाता है। जो भक्त अनन्य तथा अव्यभिचारिणी भक्ति से उसे अपना परम लक्ष्य मानकर उसका ध्यान करते रहते हैं उनके प्रेम के वशीभूत परमात्मा स्वयं उन्हे मायारूपी भवसागर से पार कराने के लिए नाव बनकर शीघ्र प्रकट हो जाते हैं। जिन भक्तों का मन तथा बुद्धि परमात्मस्वरूप में लीन हो गया है, वह निःसन्देह परमात्मभाव को प्राप्त हो जाते है तथा परमात्मा की कृपा से स्वतः ही उनका जीवात्मभाव नष्ट होकर परमात्मभाव में विलय हो जाता है, क्योंकि भगवत्कृपा से अविद्याजनित अज्ञान का अंधकार ज्ञानज्योति के प्रकाश से स्वतः नष्ट हो जाता है।

गुरुदेव का स्वरूप तो परमात्मा का ही कल्याणकारी स्वरूप है। तभी तो हमारी यह भावना बनती है कि–

कल्याणरूपं आनन्दकन्दं धारामृतं शिवम्।
गुरुदेवं नमामि गुरुदेवशरणः गुरुदेवं नमामि।।

अर्थात् मैं गुरुचरणों में अपने को समर्पण करके अपने उन गुरुदेव की वन्दना करता हूँ जो साक्षात् कल्याणरूप, परमानन्दस्वरूप तथा अमृतधारास्वरूप परम शिव हैं, वही परम आत्मतत्व है।

अब मैं आपको बताना चाहता हूँ कि कल्याणकारी गुरुदेव किन–किन रूपों में कृपा करते हैं। प्रथम तो सूत्र में अध्यात्म–सिद्धि (S→Z) के लिए तीनों मार्गों में कुछ अवयव सन्निहित हैं जिनमें अनन्तता का गुण है किंतु गुरुकृपा के बिना उनकी चरम सीमा की प्राप्ति असंभव है। शास्त्र भी इसकी पुष्टि करते हैं कि

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां बिना।।

अर्थात् सद्गुरु की कृपा के बिना विषयत्याग (R→Z), तत्वदर्शन (K→Z) तथा सहजावस्था (W→0) दुर्लभ है। इन तीनों अवस्थाओं का संबंध मलावरण के विनाश तथा तत्वज्ञान की प्राप्ति से है। यह दोनों उपलब्धियाँ गुरुदीक्षा का परिणाम हैं। दीक्षा की यही परिभाषा है कि–

दीयते ज्ञानं क्षीयते मलावरणं च

अर्थात् दीक्षा शब्द में यही अर्थ निहित है कि जिस प्रक्रिया से ज्ञान दिया जाता है और अविद्याजनित मलावरण का नाश किया जाता है उसे ही दीक्षा कहा गया है। सद्गुरुदेव अपने प्रिय बच्चों को दीक्षा कैसे देते हैं इसमें भी अनेक रहस्य गुप्त हैं। इसके कुछ दृष्टान्त मैं आपके समक्ष रखना चाहता हूँ।

प्रज्ञाप्रासादमारुह्याय अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति।।

अर्थात् जैसे पर्वत शिखर पर स्थित पुरुष भूमि पर स्थित लोगों को आसानी से देख लेता है, वैसे ही शोकमुक्त सर्वज्ञ सद्गुरुदेव प्रज्ञारूपी महल की शिखर पर बैठकर मायामोहित जीवों को आसानी से देख लेते हैं तथा शक्तिपात के द्वारा दीक्षा दे देते हैं। शक्तिपात करने की सामर्थ्य वाले महात्मा ही गुरु की पदवी के अधिकारी होते हैं, क्योंकि

गुरोर्यस्यैव संस्पर्शात् परानन्दोऽभिजायते।
गुरुं तमेव वृणुयात् नापरं मतिमान्नरः।।

अर्थात गुरु वही है जिसके स्पर्शमात्र से शरीर में शक्ति का संचार हो जाये तथा

विषयातीत आनन्द की अनुभूति होने लगे। भगवान शिव बताते हैं कि–

यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्धयेत् शनैः।
स्पर्शदीक्षोपदेशात् च तादृशः कथितः प्रिये।।
स्वापत्यानि यथा मत्स्यो वीक्षणेनैव पोषयेत्।
दृग्भ्यां दीक्षोपदेशश्च तादृशः परमेश्वरि।।
यथा कूर्मः स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोषयेत्।
वेधदीक्षोपदेश्च मानुषस्य तथा विधः।।
गुरोरालोकमात्रेण स्पर्शात् संभाषणादपि।
सद्यः संज्ञा भवेत् जन्तो दीक्षा शाम्भवी मता।।
शक्तिपातानुसारेण शिष्यानुग्रहमर्हति।
यत्र शक्तिः न पतिता तत्र सिद्धिर्न जायते।।

अर्थात् जिस प्रकार पक्षी अपने पंखों से अपने बच्चों का पोषण करते हैं, वैसे ही सद्गुरु स्पर्शदीक्षा के द्वारा अपने बच्चों का योगमार्ग में पोषण करते हैं। जिस प्रकार मत्स्य केवल दूर से वीक्षण के द्वारा अपने बच्चों का पालन–पोषण करता है, वैसे ही सद्गुरुदेव दृग्दीक्षा के द्वारा अपने बच्चों पर शक्तिपात करते हैं। जिस प्रकार कच्छप केवल संकल्पमात्र से अपने बच्चों का पालनपोषण करता है, वैसे ही सद्गुरुदेव संकल्प से ही शक्तिपात कर अपने बच्चों की योगस्थित में वृद्धि करते रहते हैं। शाम्भवी दीक्षा में तो सद्गुरु दृष्टिमात्र, स्पर्शमात्र अथवा वाणी मात्र से शक्तिपात कर अपने प्रिय बच्चे को तुरन्त सर्वसिद्धिसम्पन्न बना देते हैं। यह परम सत्य है कि सद्गुरुदेव शक्तिपात के द्वारा अपने शिष्यों पर अनुग्रह करते हैं तभी उनकी अध्यात्म–सिद्धि पूर्ण होती है। शक्तिपात के बिना कोई सिद्ध नहीं बनता।

6. exp (x): एक्सपोनेन्सियल फलन

यह गणितशास्त्र का एक अद्वितीय फलन है जो सदैव धनात्मक फल देता है तथा इसका आकलन एवं समाकलन दोनों स्वयं ही हैं। परमात्मस्वरूप की भांति यह अविकारी, अनन्त सत्ता– सम्पन्न तथा सदैव हितकारी परिणाम देने वाला फलन है। इसीलिए भगवत्कृपा तथा गुरुकृपा के फल इस फलन के द्वारा प्रदर्शित करना उपयुक्त प्रतीत हुआ। यदि पुरुषार्थ अनुकूल दिशा में है तो आध्यात्मिक प्रगति भी तीव्र गति से होती है।

7. D/L: भगवत्भक्ति/गुरुभक्ति

भक्ति भावना–प्रधान, सरलतम तथा सुगमतम साधना है जिसके परिणाम अद्भुत फल वाले हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं इस ओर संकेत किया है कि–

यो यं यं तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुं इच्छति।

तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।

अर्थात् जो भी साधक जिस-जिस शरीरधारी को जिस–जिस भावना से भजता है, मैं उसी शरीर में उसकी भावना को दृढ़ बना देता हूँ। इसके साथ–साथ जो जिस भाव से मुझ परमात्मा का भजन करते हैं, मैं भी उसी भावना के वशीभूत उसका भजन करता हूँ। संसार के लोग भी मेरे इस मार्ग का अनुसरण करते हैं। अभिप्राय यह है कि जब एक सेवक अपने जितने शक्तिशाली तथा धनवान स्वामी की सेवा–भक्ति करता है तब उसे उसका फल हजारों गुना अधिक मिलता है। इस कारण भक्तिरूप पुरुषार्थ अन्य पुरुषार्थों की अपेक्षा अधिक प्रभावी तथा शीघ्र कृपा–प्रसाद के द्वारा अध्यात्म–सिद्धि का सिद्धयोग साधन है जिसे आकाश मार्ग की संज्ञा दी गयी है, क्योंकि आकाश मार्ग से यात्रा शीघ्र गन्तव्य स्थान पर पहुँचा देती है। परमात्मा स्वयं सद्गुरु के रूप में शक्तिपात रूपी वायुयान की सुविधा उपलब्ध करा देते हैं।

भक्ति को समझने के लिए भक्तों के लक्षणों को आत्मसात करना होगा। मानव शरीर में चित्तवृत्तियों के रूप में उसका संसार प्रकाशित होता है। जहाँ जिसका जैसा संसार है, वैसा ही उसका चित्त है। ऐसे चित्त में भक्ति का उदय नहीं होता, क्योंकि भक्ति को संसाररूपी विकारों से रहित निर्मल चित्त चाहिए जिसमें भक्त के भगवान के अतिरिक्त कोई अन्य वृत्ति प्रकाशित न हो। भगवान श्रीकृष्ण ने भक्त के लक्षण इस प्रकार बताये हैं कि–

मच्चित्ताः मद्गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ताः उपासते।

श्रद्धया परयोपेताः ते मे युक्ततमाः मताः।।

मत्कर्मकृत् मत्परमः मद्भक्तः संगवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः सः मामेति पाण्डव।।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

सः गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय च कल्पते।।

अर्थात् मानव शरीर में प्राण के माध्यम से जीवन प्रतीत होता है तथा चित्त के माध्यम से उसका संसार। भक्त वह है जिसके लिए उसका भगवान ही जीवन है तथा भगवान ही उसका संसार है। अतः व्यवहार में भक्त को अपने भगवान की लीलाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई देता यानि उसकी वाणी प्रतिक्षण अपने भगवान की लीलाओं का वर्णन करती है, आँखें लीलाओं को ही देखती रहती हैं और कान लीलाओं का ही गान सुनते रहते हैं। उसका मन तथा बुद्धि सांसारिक वृत्तियों को त्याग कर नित्य तथा निरन्तर अपने भगवान के दिव्य

स्वरूप में आनन्दित होता है, उसी में रमण करता है, उसी में जैसे प्रवेश कर गया हो। उसका हृदय प्रेम–भक्ति के अथाह सागर में जैसे सदैव के लिए डुबकी लगाता प्रतीत होता है। श्रद्धा के रंग से रंगे हुए उसके चित्त में जैसे संसार के किसी भी चित्र के लिए कोई स्थान शेष है ही नहीं। उसका भगवान ही उसका परम लक्ष्य है, परम धाम है, परम प्रिय वस्तु है, परम निवास–स्थल है। उसे संसार दिखाई ही नहीं देता है जिसके कारण न कोई उसका शत्रु है और न मित्र, न सुख है और न दुःख, न मान की इच्छा और न अपमान का संताप। ऐसे अनन्य तथा अव्यभिचारिणी भक्ति प्रेम में निमग्न भक्त के चित्त में माया के गुणों के परिणामक्रम जैसे मानों कि अपना कार्यव्यापार त्याग देते हैं। ऐसा भक्त गुणातीत अवस्था में पहुँच कर ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। जो चित्त गुण–विकारों से रहित हो गया, जिसमें चित्तवृत्तियों का स्वाभाविक निरोध हो गया, उस चित्त में चिदिशक्ति अपने विशुद्ध सत्स्वरूप में प्रकाशित हो जाती है। ऐसे परमात्मा के भक्त को सर्वत्र परमात्मा के ही दर्शन होते हैं, क्योंकि परमात्मा ही सर्वव्यापक चिदिशक्ति का सत्यस्वरूप है। सद्गुरुदेव तथा परमात्मा में केवल नाम–रूप का ही भेद है जो कि अज्ञान के कारण प्रतीत होता है, ठीक वैसे ही जैसे अंधकार के कारण रज्जु में सर्पभ्रान्ति। श्रुति में इसका प्रमाण है कि–

तथा विद्वान् नामरूपादिविमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।

(मुण्डकोपनिषद् 3/2/8)

अर्थात् नामरूप की माया से मुक्त विद्वान परात्पर परब्रह्म यानि परमात्मा के दिव्य स्वरूप को ही प्राप्त कर लेता है।

अब मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि परमात्मा की अथवा सद्गुरुदेव की शक्तिपात रूपी कृपा का अधिकारी कौन होता है और हम उसे कैसे पहचान सकते हैं? इसका सीधा तथा सरल उत्तर यही है कि जो उनका प्यारा है, वही उनकी कृपा का अधिकारी है। संसार के व्यवहार में भी ऐसा ही देखने में आता है कि जिसको हम दिल से सच्चा प्यार करते हैं उसको ही अपनी प्रियतम वस्तु अर्पण करते हैं। परमात्मा को कौन प्यारा लगता है यह हम उनके मुखारविन्द से ही सुन लेते हैं कि–

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुणएव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिः मय्योमद्भक्तः स मे प्रियः।।
यस्मान्न द्विजते लोकः लोकान्न द्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः यः सः मे प्रियः।।
अनापेक्षः शुचिः दक्षः उदासीनो गतव्यथः।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः सः मे प्रियः।।
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान यः स मे प्रियः।।
समः शत्रुमित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।
तुल्यनिन्दास्तुतिः मौनी सन्तुष्टः येन केनचिद्।
अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् यः सः मे प्रियः।।

अर्थात् जिसको यह ज्ञान है कि समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा में परमात्मा ही हूँ। वह भक्त किसी के प्रति भी वैरभाव नहीं रखता, सभी के प्रति अपनत्व का मित्रभाव तथा सहानुभूति रखता है। वह कहीं भी न मोहासक्त होता है, न अहंकार का प्रदर्शन करता है, सुख तथा दुःख में समान भाव रखता है तथा क्षमाशील रहता है। वह भक्त जो प्रत्येक परिस्थिति से सन्तुष्ट है, सदैव ध्यानस्थ योगी की भांति मन पर नियन्त्रण रखता है तथा दृढ़निश्चयी है तथा जिसने अपने मन तथा बुद्धि को मेरे परमात्मस्वरूप में समाहित कर लिया है, ऐसा भक्त मुझे बहुत प्यारा है। जो न स्वयं किसी से ईर्ष्या करता है और न अन्य कोई उससे ईर्ष्या करता है तथा जिसका मन हर्ष, संताप तथा भय आदि विकारों से मुक्त है, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है। जिसको किसी भी वस्तु या सहायता की अपेक्षा नहीं, जिसका अन्तःकरण विशुद्ध है, जो संसार में उदासीनभाव से व्यवहार करता है, जो चिन्तामुक्त है तथा जिसने सभी सकाम कर्मों का परित्याग किया हुआ है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। जो किसी भी परिस्थिति में न द्वेष करता है, न हर्षित होता, न शोकाकुल होता है और न किसी भी प्रकार की कामना करता है। जिसने शुभ अथवा अशुभ घटनाओं में समभाव को अपना लिया है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। जिसके हृदय में शत्रु तथा मित्र के प्रति समान भाव है, वैसा ही भाव मान तथा अपमान की स्थिति में रहता है, वैसा ही समभाव शीत, उष्ण, सुख तथा दुःख की परिस्थिति में रहता है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। जो अपनी वर्तमान परिस्थिति में पूर्ण सन्तुष्ट है, निन्दा अथवा स्तुति करने वाले के प्रति समान भाव रखता है जो स्थिरबुद्धि तथा एकान्तप्रेमी है, ऐसा भक्त मुझ परमात्मा को बहुत प्रिय है।

8. O/K: सन्यास/परमात्मज्ञान

सन्यास तथा परमात्मज्ञान का अन्योन्याश्रित संबंध है। घर-परिवार का त्याग करने या गेरुआ वस्त्र पहनने या अग्नि का त्याग करने को सन्यास नहीं कहते। सर्वसंकल्पविकल्पों का परित्याग ही सन्यास है। संकल्प तथा विकल्प चित्तवृत्तियां हैं। चित्तवृत्तियाँ अविद्या आदि पंचक्लेशों का परिणाम होती हैं। यह पंचक्लेश बुद्धिबोधात्मक जीवभाव के कारण माया के तीन गुणों के विकार हैं। अतः जीवभाव के नाश के बिना संकल्प-विकल्पों का परित्याग सम्भव नहीं। जीवभाव का नाश परमात्मज्ञान से होता है। किंतु यह सन्यास चिरकाल तक अनेक

जन्मों की साधना के बाद प्राप्त होता है। इसकी साधना में विवेक तथा वैराग्य का विशेष योगदान होता है। विवेक की उपलब्धि महापुरुषों का सत्संग तथा मुक्तिदाता शास्त्रों के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के अभ्यास से प्राप्त होती है। विवेक के पुष्ट होने पर धीरे-धीरे वैराग्य होता जाता है। यह एक स्वभाविक क्रिया है तथा इसकी प्रगति भी स्वतः स्वभाविक रूप से होती है। हठपूर्वक किया गया सन्यास सफल नहीं होता, अपितु आडम्बर की दलदल में फंसा देता है। सन्यास की योग्यता प्राप्त करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने कुछ संकेत दिए हैं कि–

चतुर्विधाः भजन्ते मां भक्ताः भावसमन्विताः।
आर्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।
उदाराः सर्वे एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
सहस्त्राणां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।।
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेन आत्मनि विन्दति।।
सन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिः ब्रह्मं अचिरेणाधिगच्छति।।

अर्थात् यथाशक्ति श्रद्धापूर्वक चार प्रकार के भक्त मेरी उपासना करते हैं। प्रथम वह भक्त है जो कि किसी परिस्थितिवश भयभीत है और अपनी सहायता यानि भयमुक्ति के निमित्त मेरा स्मरण करते हैं तथा तद्विषयक श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करते हैं। द्वितीय वह भक्त हैं जो कि जन्म, मृत्यु, व्याधि तथा वृद्धावस्थादि के दुःखों से दुःखी हो चुके हैं तो इस मायाजनित संसार को अपने दुःखों का कारण मानते हुए दुःखों से मुक्ति चाहते हैं तथा मुझ परमात्मा को माया का अधिपति मानते हुए अपने को माया के कर्मबन्धन से मुक्त करने के लिए ज्ञानप्राप्ति की जिज्ञासा से मेरी उपासना करते हैं। तृतीय वह भक्त है जो सांसारिक ऐश्वर्य तथा धन-सम्पत्ति की लालसा से मुझे सर्वशक्तिमान तथा लक्ष्मीपति मानते हुए मेरी उपासना करते हैं। चतुर्थ श्रेणी के वह भक्त हैं जो तत्वज्ञानी हैं तथा मुझे सर्वव्यापी, सर्वान्तरात्मा, कर्माध्यक्ष, समस्त प्राणियों का निवास-स्थल तथा सभी की मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों की वृत्तियों का ज्ञाता तथा साक्षी मानते हुए मेरी अनन्यभाव से भक्ति करते हैं, क्योंकि–

यो मामेवं असंमूढः जानाति परमेश्वरम्।
सः सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।।

अर्थात् क्षर तथा अक्षर दोनों स्वरूपों से अतीत मुझ परमात्मा को जानकर ही ज्ञानी मनुष्य सर्वभाव से मेरी ही आराधना करते हैं। मेरे यह चारों श्रेणी के भक्त प्रिय हैं किंतु मेरी ही

आराधना करते हैं। मेरे यह चारों श्रेणी के भक्त प्रिय हैं किन्तु मेरी ही आत्मा है यानि वह जीवभाव से मुक्त होकर परमात्मभाव को धारण कर लेता है। परन्तु ऐसी स्थिति हजारों जन्मों की निरन्तर साधना के उपरान्त ही प्राप्त होती है। तत्वज्ञान के सदृश अन्य कुछ भी पवित्रतम नहीं है और वह कालान्तर में योग–सिद्ध होने पर ही आत्मा में प्रकाशित होता है। इसी कारण बिना योग के सन्यास की उपलब्धि दुर्लभ है। योग–सिद्ध हो जाने पर यह उपलब्धि शीघ्र ही स्वतः प्राप्त हो जाती है। परमात्मा श्रीकृष्ण ने स्वयं स्वीकार किया है कि सन्यासधर्म अत्यन्त कठिन मार्ग है, क्योंकि–

ये चाप्यक्षरमनिर्देश्यं अव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।
क्लेशोऽधिकतरः तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिः दुःखं देहवद्भिः अवाप्यते।।

अर्थात् जो परब्रह्म अक्षर है, अनिर्देश्य है, अव्यक्त है, सर्वव्यापी है, अचिन्त्य है, कूटस्थ है, अचल है तथा स्थिर एवं निश्चेष्ट है, उस परात्पर स्वरूप का चिन्तन बुद्धि नहीं कर सकती, क्योंकि बुद्धि प्रकृति का विकार है तथा ब्रह्म प्रकृति से परे है, तर्क से न समझा जा सकता है और उसकी कल्पना की जा सकती है। वह मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों का विषय नहीं है, अतः इनके व्यापार पर पूर्ण नियन्त्रण की सर्वत्र सर्वप्रकार की प्रकृतिजनित विषमताओं को त्याग कर समत्व में स्थित होकर प्राणीमात्र के हित में व्यवहार करते हुए मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। किंतु उस अव्यक्त, कूटस्थ तथा निराकार परब्रह्म की उपासना करने वालों का साधना–मार्ग अत्यन्त कठिन है, क्योंकि शरीरधारियों के लिए निर्गुण तथा निराकार स्वरूप में अपनी बुद्धि तथा अहंता को समाहित करना दुर्लभ सा है, क्योंकि अपने स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर का देहाध्यास त्यागना योगसिद्धि के बिना असम्भव सा है। जब तक देहाध्यास बना हुआ है तब तक द्वैतभाव भी बना रहता है तथा द्वैतभाव के रहते अद्वैत निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति कैसे हो सकती है। योगसिद्धि की कैवल्यावस्था में ही जब गुण पुरुषार्थशून्य होकर अपने कारण में विलीन हो जाते हैं तभी अविद्याजनित द्वैतभाव का नाश होता है।

यहाँ हमने देहाध्यास तथा द्वैतभाव का संकेत किया है सो संक्षेप में हम आपको बता दें कि यह क्या होता है। देहाध्यास से तात्पर्य है कि देह तथा आत्मा में एकता का अनुभव करना। जब हमारे स्थूल शरीर पर कोई शस्त्र से आघात करता है, या अग्नि से जलाता है, या जल में डुबाता है या विषैली गैस से श्वास–क्रिया बाधित करता है तब हम बेचैन, दुःखी तथा तड़पने चिल्लाने लगते हैं, यही स्थूलशरीर का देहाध्यास है। भगवान श्रीकृष्ण बताते हैं कि आत्मभाव में स्थित के यह लक्षण नहीं हैं, क्योंकि–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्ति आपो न शोषयति मारुतः।।

अर्थात् आत्मा को न शस्त्र छेद सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल भिगो सकता है और न वायु शोषण कर सकती है।

द्वैतभाव का अर्थ है कि अपने से भिन्न परमात्मा तथा संसार को देखना। यह परमात्मभाव में स्थित सिद्ध का लक्षण नहीं है, क्योंकि–

''यत्र द्वैतमिव भवति तत्रैव इतरं इतरो पश्यति, यत्र सर्वमात्मैव भवेत् तत्र कं केन पश्येत्''

अर्थात् जहाँ द्वैतभाव है वहीं एक दूसरे को देखना है। जहाँ सब कुछ आत्मा ही है, वहाँ कौन किसको देखे। अतः परमात्मभाव में स्थित को अपने से भिन्न कुछ भी नहीं दिखता। द्रष्टा भी वही है तथा दृश्य भी वही है।

●●●

भजन

प्रेषक मोती राम गर्ग, अलूपुर

टेक–प्रभू राम लाल तेरा, हमने लिया सहारा।
नैया पार लगा दो, बड़ा दूर है किनारा।।
1. पापी हूँ अधम हूँ, भक्ति भाव ना जानू।
दया मुझ पे कर दो, तेरा ऐशान मानू।।
ठोकरें जगत की खाई, अबदे दो मुझे सहारा।
नैया पार लगा दो.....
2. फरयाद कर रहा हूँ, तुझे याद मैं कर रहा हूँ।
क्यू भुला दिया मुझको–इंतजार मैं कर रहा हूँ।।
तुम छुपे हो कहाँ स्वामि, मैं ढूंढ ढूंढ कर हारा।।
नैया पार लगा दो......
3. आकाश गामी हो तुम, नैपाल जा समाधि लगाते।
जगत् के कल्याण हेतू, फिर आ कर दर्श दिखाते।।
तेरे दर का रास्ता भूला, फिर रहा हूँ मारा मारा।।
नैया पार लगा....
4. कलियुग में अवतार ले, योग की राह दिखाई।
भारत में प्रभू जी तुमने, अमृत गंगा बहादी।।
शक्तिपात कर के, रामरति को उभारा।।
नैया पार लगा.....

अनुसरणीय

अंशुमानदेव मालवीय, वाराणसी

विश्व में हमारा देश भारत ही है जिसकी संस्कृति विश्व विख्यात है। यहाँ हमारे देश में बचपन से हमें संस्कार का पाठ हमारे माँ–बाप तथा गुरुजन पढ़ाते हैं। हमें अपनी संस्कृति से बहुत कुछ सीखने व समझने को मिलता है। परंतु आज इस घोर कलियुग में मनुष्य जहाँ अपने अहंकार के वशीभूत होकर विषय–वस्तु को पाने में आसक्ति रखता है वह अपने इन चीजों के लिए यहाँ–वहाँ ही भटकता रह जाता है और अपने मुख्य उद्देश्य, जो कि मनुष्य का परम लक्ष्य है और इसी के लिए मनुष्य का तन हमने पाया है, से भटक जाता है–

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।

अर्थ :– जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की भांति पाप से लिप्त नहीं होता।

इस श्लोक को अगर हम ध्यान में रखे तो हमारा जीवन बदल जायेगा परंतु ऐसी स्थित पाने के लिए मनुष्य को अपना अहंकार त्याग कर सद्‌गुरु की शरण लेनी होगी और इस जीवन के मुख्य वक्तव्य परम ज्ञान (ब्रह्म) को पाना होगा जिससे हमारा हृदय परिवर्तित हो और हम परम धाम को प्राप्त करें।

आज के इस परिवेश में जहाँ मनुष्य अपने निजी स्वार्थों में इतना लिप्त हो गया है कि वह अपने स्वार्थों के चलते अपने दायित्व तथा अपने माँ–बाप व गुरुजन का सम्मान करना भी भूल गया है। हमारा यह जीवन अपने माँ–बाप तथा गुरु का ऋणी है और ऋण को हम कभी भी चुका नहीं सकते हैं और जो मनुष्य यह सोचता है कि मैं अपने माँ–बाप तथा गुरु के ऋण को चुका दिया हूँ तो यह बात एकदम मिथ्या है। इस विषय में एक घटना का वर्णन करना उचित होगा।

यह घटना काशी (वाराणसी) की है, काशी के लोगों के अनुसार यह कथा सुनने में आती है। घटना इस प्रकार से है– एक श्रद्धावान महिला जिसका नाम रत्ना देवी था वह देवाधिदेव भगवान शिव की परम भक्ता थी। वे प्रत्येक दिन भगवान शिव की आराधना करती थी और उसके मन में हमेशा यह भावना बनी रहती थी की वह एक शिव मन्दिर बनवाये और इस पवित्र भावना को रत्ना देवी ने अपने पुत्र के सम्मुख रखा। रत्ना देवी के पुत्र ने अपने माँ को वचन दिया की वह अवश्य एक भव्य शिव मन्दिर को बनवायेगा और वह इस कार्य में लग गया निरन्तर व अथक प्रयास के बाद एक भव्य शिव मन्दिर बन कर तैयार हो गया। उस

मन्दिर का नाम उसके पुत्र ने अपने माँ के नाम से रत्नेश्वर महादेव रखा। मन्दिर को बनवा कर उसने अपने अहंकार के वशीभूत होकर यह कहाँ कि आज से अपने माँ के ऋण से मुक्त हुआ। इतना कहते ही पूरा मन्दिर टेढ़ा हो गया और आज भी इसी स्थिति में गंगा किनारे स्थित है। इस घटना से हमें यह सीख मिलती है कि हम अपने माँ–बाप व गुरु के ऋणी हैं। इनका सम्मान करना हमारा सबसे बड़ा धर्म है। इस संसार में माँ–बाप तथा गुरु हमारे लिए साक्षात् ईश्वर तुल्य है।

आप सभी सुयोग्य पाठकों से मेरा सविनय निवेदन है कि लेख की त्रुटि को ध्यान न देकर इसके पवित्र भावों को ग्रहण करें।

●●●

जीवन का आधार

हृदय को सतत् चन्द्र रश्मि–
निरन्तर तरंगित करती है,
सूर्य की सुन्दरतम किरणें–
जीवन–पथ को आलोकित करती हैं,
शीतल वायु की मधुरता–
गुणवत्ता को प्रेरित करती है,
मानव–मन की कठिनता को
प्रकृति की सरसता प्रशस्त करती है,
ज्ञान–विज्ञान के नव विचारों की
नवीन जागृति का प्रसार क्षितिज कर देती है,
शान्ति प्रहार से नहीं करुणा से
आशापूर्ण परिस्थित को सुरक्षित कर देती है,
संयम एवं त्याग के स्वच्छ मार्ग ही
आनन्द एवं उज्जवल भविष्य पर पहुँचा देते है
ईश्वर की इष्ट कामना से हृदय की–
अन्तरंगता जीवन को सुलभ बना देती है
'कथनी' से 'करनी' महत्त्व मान है
विपत्ति हीन कर जीवन निर्वाह जीवन निर्माण कर देती है,
'अनन्त श्री' जी के सद् उपदेश की ज्ञानता,
क्रिया–कर्म को सफल बना तदेती है,
सफलता जीवन को मधुरतम कर देती है।

निर्मला चन्देल
उदयपुर
(राजस्थान)

हमारा जीवन दूसरों की मृत्यु पर अवलम्बित है, चाहे वनस्पतियाँ हों, चाहे पशु, चाहे कीटाणु। एक बड़ी भारी भूल जो हम लोग बहुधा करते हैं, वह यह कि शुभ को हम सदा बढ़ने वाली वस्तु समझते हैं और अशुभ को एक निश्चित राशि मानते हैं। इससे हम तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं कि यदि अशुभ दिन-दिन घट रहा है तो एक समय ऐसा आयेगा, जब शुभ ही अकेला शेष रह जाएगा। मिथ्या पूर्ण पक्ष को स्वीकार कर लेने से हमारा तर्क अशुद्ध हो जाता है। यदि शुभ की मात्रा बढ़ रही है तो अशुभ की भी बढ़ती है। मेरी जाति की जनता की अपेक्षा मेरी आकांक्षाएँ बहुत बढ़ गयी हैं। मेरा सुख उनसे अत्यधिक है, परंतु मेरा दु:ख भी उनसे लाखों गुना तीव्र है। जिस स्वभाव के कारण तुम्हें शुभ के स्पर्श मात्र का आभास होता है, उसी से तुम्हें अशुभ के स्पर्श मात्र का भी आभास होगा। जिन स्नायुओं द्वारा सुख का अनुभव होता है, उन्हीं के द्वारा दु:ख का भी; और एक ही मन दोनों का अनुभव करता है। संसार की उन्नति का अर्थ है सुख और दु:ख – दोनों की अधिक मात्रा। जीवन और मृत्यु, शुभ और अशुभ, ज्ञान और अज्ञान का सम्मिश्रण –यही 'माया' कहलाती है–यही है विश्व का नियम। तुम अनन्तकाल तक इस जाल में सुख और दु:ख की खोज करो–तुम्हें बहुत सुख और बहुत दु:ख दोनों मिलेंगे। यह कहना कि संसार में केवल शुभ ही हो, अशुभ नहीं, बालकों का प्रलाप मात्र है। दो मार्ग हमारे सामने हैं–एक तो सब प्रकार की आशा को छोड़कर संसार जैसा है वैसा स्वीकार करके, दु:ख की वेदना को सहन करें, इस आशा में कि कभी-कभी सुख का अल्पांश मिल जाया करेगा। दूसरा मार्ग यह है कि हम सुख को दु:ख का ही एक दूसरा रूप समझकर सुख की खोज को त्याग दें तथा सत्य की खोज करें–और जो सत्य की खोज करने का साहस रखते हैं, वे उसे नित्य अपने में ही विद्यमान पाते हैं। फिर हमें यह भी पता लग जाता है कि वही सत्य किस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन के भ्रम और ज्ञान दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है–हमें यह भी पता लग जाता है कि वही सत्य 'आनन्द' है, जो शुभ और अशुभ दोनों रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। साथ ही हमें यह भी पता लग जाता है कि वही 'सत्' जीवन और मृत्यु दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है।

– स्वामी विवेकानन्द

SIDDHYOG Postal Regd. No. Ag 19/06-08

SEPTEMBER 2008

मीडिया प[illegible]

हृदय स्पर्शी सेवा

[illegible] (आगरा) की जनता के [illegible] करने के लिए एक अनोखी एवं प्रभावशाली [illegible]

निम्न माध्यमों से विज्ञापन की सुविधा

1. [illegible] पर [illegible] का विज्ञापन

2. [illegible] (आंशिक)

3. [illegible] (अधिकतम) रु. 1000 प्रति [illegible] रु. 500.00 प्रति [illegible]

4. [illegible] रु. 3.50 [illegible]

5. [illegible] रु. [illegible] प्रति [illegible]

6. [illegible] विज्ञापन [illegible] रु. [illegible] प्रति [illegible] 400/-

7. [illegible] पोस्ट कार्ड के [illegible] विज्ञापन [illegible] पोस्ट कार्ड [illegible] रु. [illegible] प्रति पोस्ट कार्ड। [illegible] पोस्ट कार्ड का विक्रय मूल्य [illegible] 25 पैसे मात्र।

संस्थापक – [illegible] अनन्तश्री [illegible] मुद्रक एवं प्रकाशक [illegible] के लिए राष्ट्रीय [illegible] एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 [illegible] केन्द्र, [illegible] आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/[illegible]

सम्पादक :आ[illegible] शर्मा